अभयदाता भगवान

श्रीभागवत-दर्शन

भागवती कथा

(प्रथम खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनत सुमनांसि विचिन्वता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

—:❀:—

प्रकाशक
संकीर्तन भवन
झूसी [प्रयाग]

—:❀:—
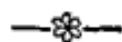
चतुर्थ संस्करण] मार्गशीर्ष सम्वत् २००७ वि० [मूल्य ३)

प्रकाशक—
व्यवस्थापक
संकीर्तन-भवन,
झूसी—प्रयाग

प्रथम संस्करण—श्रावण, सम्वत् २००३ वि०	२०००	प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण—पौष, सम्वत् २००३ वि०	३०००	,,
तृतीय संस्करण—श्रावण, सम्वत् २००५ वि०	३०००	,,
चतुर्थ संस्करण—मार्गशीर्ष सं० २०१७ वि०	१००००	,,
कुल	१८०००	,,

स्थाई ग्राहकोंसे डाक व्यय सहित वार्षिक दक्षिणा १५=) अग्रिम

मुद्रक—
श्री रामनाथ अग्रवाल
आर्ट प्रिन्टर्स, 'अशोक निवास' (जीरो रोड)
इलाहाबाद

समर्पण

कृष्ण कथा रस पान कान करि कब मम भरिहैं ?
करि हरि दरशन अश्रु नयन कब झर-झर झरिहैं ?
कब हौं जीवन मूरि धूरि-पग भक्तनि मानूँ ?
कब श्रीराधारमन चरन सरबसु करि जानूँ ?

जे नित अस वांच्छा करहिँ, तजहिँ जगतकी सब व्यथा।
उनहिँ भागवत करनिमहँ, अरपित 'भागवती कथा'॥

पुराण-पत्र मण्डप,
प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग)
श्रावण, नागपंचमी, २००२ वि०

—प्रभुदत्त

विषय

विषय	पृष्ठाङ्क
[क] प्रकाशकका वक्तव्य	१
[ख] मेरा पतन	७
१—भागवती कथा [भूमिका]	१७
२—जयार्थ	४२
३—नैमिषारण्य	४८
४—श्रीसूत	६१
५—सर्वोत्कृष्ट प्रश्न	७०
६—परम धर्म	८०
७—भागवत सेवासे	८८
८—भागवती प्रक्रिया	९६
९—श्रवण-परम्परा	१०४
१०—विराट् पुरुष	११३
११—प्रथमावतार	१२१
१२—अन्यावतार	१३१
१३—पावन प्रश्न	१४३
१४—श्रीव्यासदेव	१५८
१५—श्रीव्यासजीकी चिन्ता	१७३
१६—व्यासाश्रमपर श्रीनारदजी	१८४
१७—व्यासजीकी व्याकुलताका कारण	१९२
१८—नारदजीका पूर्वजन्मका वृत्त	२०४
१९—गधर्व योनिमें नारदजी	२१३
२०—नारदजीको शूद्र योनिमें सत्सग	२२१

॥ श्रीहरिः ॥

चतुर्थ संस्करणकी भूमिका

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्

पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।

पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्

कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने ॥

आज चार वर्षमें "भागवती कथा" के चतुर्थ संस्करणको पाठकोंके सम्मुख रखते हुए हमें हर्ष हो रहा है। तीन संस्करणों-में इस खण्डकी आठ सहस्र प्रतियाँ समाप्त हो चुकी हैं। दश सहस्रका यह चौथा संस्करण छपा है। हिन्दीकी साधारण स्थितिको देखते हुए इतने कम समयमें इसका इतना प्रचार साधारणतया सन्तोषप्रद ही कहा जा सकता है, किन्तु हमें इतनेसे सन्तोष नहीं। हमारी तो भावना यह है, कि प्रत्येक हिन्दुके घरमें इस पुस्तकका रहना अत्यावश्यक है। तेतीस करोड़ हिन्दुओंमें कम से कम इसकी पचास लाख प्रतियाँ तो छपनी ही चाहिये। यह ग्रन्थ बालकसे वृद्ध तक विद्वान्से मूर्ख तक सभीके लिए उपयोगी है। पच देवोंमें से आप किसी के भी उपासक हों, निर्गुण सगुण किसी रूप में आस्था रखते हो और नहीं तो कथाओं के ही प्रेमी हों आपको इस पुस्तक से सन्तोष होगा। इसमें इतनी विशेषतायें हैं—

१—पुराणोंकी तथा अन्य शास्त्रोंकी सुन्दर, मनोरंजक तथा उपदेशप्रद असंख्यों कहानियाँ हैं।

२—भारतीय संस्कृति और सदाचार का पग पग पर ध्यान रखा गया है।

३—व्यावहारिक ज्ञान इतनी सरलतासे वर्णन किया गया है, कि छोटे छोटे बच्चे भी इसे समझ सकते हैं।

४—भाषा इतनी सरल सरस और हृदयग्राही है, कि पढ़ते पढ़ते चित्त ऊबता नहीं। जिनको केवल अक्षर ज्ञान है, ऐसे कम पढ़े लिखे भी इसे भली भाँति समझ सकते हैं।

५—इसमें सभी वेदशास्त्र तथा पुराणोंका निचोड़ है।

६—आपके घरमें यह पुस्तक रहेगी तो आपके यहाँका वायुमंडल विशुद्ध बन जायगा। स्त्री बच्चे सभीमें एक प्रकार की धार्मिक प्रवृत्ति स्वत: जाग्रत हो उठेगी।

७—भाषाका, समाजका, धार्मिककृत्योंका इतिहासका तथा सभी विषयोंका ज्ञान इसी एक पुस्तकसे सरलताके साथ कथा सुनते सुनते ही हो जायगा।

८—गद्य पद्य दोनों ही हैं। प्रत्येक अध्यायके आदि अन्त में एक एक छप्पय है, इन दो छप्पयोंमें पूरे अध्यायका सार आ जाता है। केवल छप्पयों को ही पढ़ते जाओ तो सम्पूर्ण कथा समझमें आ जायगी।

९—पुस्तक खण्डशः प्रकाशित हो रही है। अब तक इसके ३८ खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्राय प्रतिमास एक खण्ड प्रकाशित होता है। प्रत्येक खण्डका मूल्य १।) है। जिसमें लगभग ढाई सौ पृष्ठ रहते हैं। ७-८ सादे तथा एक रङ्गीन चित्र भी।

१०—किसी भी प्रकारके संकीर्ण या सङ्कुचित भाव इसमें व्यक्त नहीं किये गये हैं।

ऐसी पुस्तक का घर घर प्रचार हो यही हमारी मनःकामना है और यही परम पिता परमात्माके पादपद्मोंमें प्रार्थना है।

प्रथम खण्ड जब छपा था तबसे अब तक बहुत परिवर्तन हुए हैं, यह ससार ही परिवर्तनशील है इसमें क्षण क्षण में परिवर्तन होते रहते हैं।

तब संकीर्तन भवन के पास प्रकाशन के कुछ भी साधन न थे। इन चार वर्षों में ३८-३९ खण्ड छप जाने से कुछ कुछ ढर्रा चलने लगा है। यद्यपि अब भी प्रत्येक खण्डके निकालनेमें असुविधाये बहुत होती हैं, किन्तु पहिली जैसी नहीं। संकीर्तन भवन पर अपना एक छोटा मोटा प्रेस भी हो गया है। एक चार पेजी छोटी मशीन भी है। चार-पाँच आदमी काम करते हैं। उसे

पहिले संकीर्तन भवन एक अनियमित पुरातन परिपाटी की संस्था थी। अब इसकी राजकीय नियमानुसार एक संरक्षण समिति।(संकीर्तन भवन धार्मिक ट्रस्ट) बन गया है। उसके निम्नलिखित सात संरक्षक ट्रस्टी हैं।

१—श्री स्वामी ब्रह्म चैतन्यपुरी जी महाराज, झूसी।
२—श्री श्याम प्रकाशजी ब्रह्मचारी झूसी।
३—श्री प० मूलचन्द्रजी मालवीय, भारती भवन प्रयाग।
४—श्री प० रामनारायण जी वैद्य, अध्यक्ष वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, कलकत्ता, पटना, झाँसी और नागपुर।
५—श्री प० रामकृष्णजी शास्त्री वेदान्ताचार्य, झूसी।
६—श्री बाबू बैनीप्रसादजी सुपुत्र श्री रामनारायण लालजी बुकसेलर कटरा प्रयाग।
७—श्री श्याम सुन्दरजी अग्रवाल, प्रयाग तथा श्री गजाधर प्रसाद जी भार्गव वैधानिक सम्मति दाता हैं।

पहिले भागवती कथाके अतिरिक्त श्री ब्रह्मचारीजीका "श्री शुक" नामक एक छोटा सा ही ग्रन्थ छपा था। अब इधर चार वर्षमें भागवती कथाके अतिरिक्त ब्रह्मचारीजीके १५ छोटे

बड़े ग्रन्थ और निकले हैं। जिनके नाम १ चैतन्य चरितावल (प्रथम खण्ड) । २—भागवत चरित (सप्ताह) पद्यों में, ३—बदरीनाथ दर्शन, ४ - महात्मा कर्ण, ५—मतवालीमीरा, ६—नाम संकीर्तन महिमा, ७—श्रीशुक ८—शोक शान्ति, ९—मेरे महामन मालवीय जी और उनका अन्तिम सन्देश, १०—भारतीय संस्कृति और शुद्धि, ११—प्रयाग माहात्म्य, १२—वृन्दावन माहात्म्य १३—राघवेन्दुचरित, १४—भागवती कथाकी बानगी तथा १५—भागवत चरितकी बानगी, ये हैं।

इन सभी कारणों से प्रथम, द्वितीय और तृतीय संस्करण की भूमिकायें हटा दी गयी हैं।

इतना सब होनेपर भी इसके स्थाई ग्राहकोंकी संख्या वृद्धि नहीं हुई। हमें आशा थी, कि कम से कम चार-पाँच वर्ष में पाँच छै सहस्र तो ग्राहक हो ही जायगे, किन्तु हमारा अनुमान असत्य सिद्ध हुआ। प्रथम वर्ष लगभग आठसौ ग्राहक थे। उनमेंसे भी कुछ घट जाते हैं कुछ बढ़ जाते हैं सहस्रसे ऊपर अभी नहीं हुए। कुछ शाखाओंमें बिक्री हो जाती हैं कुछ फुट कर बिक जाती हैं। इस प्रकार अनुमानतः डेढ़ हजार पौने दो हजार निकल जाती होंगी। इसीलिये प्रति वर्ष इसमें घाटा रहता है और यही कारण है कि समय पर प्रतिमास खण्ड प्रकाशित नहीं होते। नियमानुसार अब तक ५५ खण्ड निकलने चाहिये थे, किन्तु अभी निकले हैं ३८ ही। यदि सभी पाठक इसे विशुद्ध धार्मिक कार्य समझकर इसके २-२-४-४ ग्राहक बनावें तो यह अपने पैरों खड़ी हो जाय। अब तकतो इसे खड़ा करनेके लिये दूसरोंकी सहायताकी अपेक्षा रहती है। कुछ ऐसे १०-२० धार्मिक प्रवृत्तिके प्रतिष्ठित लोगोंके पते हमारे पास लिखकर भेजे जिनसे हम ग्राहक बनने की प्रार्थना कर सकें।

हम चाहते हैं, इस ग्रन्थका अधिकसे अधिक प्रचार हो। क्योंकि आज सनातन धर्मका जैसा ह्रास हो रहा है वैसा सम्भवतया कभी भी न हुआ होगा। इस पाश्चात्य शिक्षाने हमारा सर्वस्व नाश कर दिया है। इसने हमारा जो सामाजिक, राजनीतिक, पतन किया है सो तो किया ही है, सब से अधिक कुठाराघात इस शिक्षाने हमारे धर्मके ऊपर किया है। इस शिक्षाने बाल्य-कालसे हमारे हृदयोंमें घुसकर ऐसी जड़ जमा ली है, कि हम अपनी पुरानी संस्कृति, सभ्यताको एक दम भूलसे ही गये हैं।

हमारे बच्चे मनोरञ्जनके लिये जो कहानियाँ, उपन्यास पढ़ते हैं, वे इतने गन्दे होते हैं, कि उनसे लड़के-लड़कियों का मन मलिन हो जाता है। उनकी वैषयिक वृत्ति जाग उठती है। वे विषय भोग और अवैध सम्बन्धको ही सुखका साधन समझने लगते हैं। हमारे बच्चे यदि धार्मिक कथाओंको पढ़ें, तो मनोरञ्जनके साथ-साथ उन्हें धार्मिक ज्ञान भी होगा अपने आचार, विचार, सदाचारसे भी अनभिज्ञ न रहेंगे, हिन्दु धर्म का गौरव भी समझने लगेंगे। और जातिके लोग चाहें जैसे अपने को उन्नत समझें, किन्तु हिन्दुओं की उन्नति तो धर्म से ही होगी। इसीलिये हमारी इच्छा है, कि इस हिन्दु धर्म के सार सिद्धान्त रूपी महाग्रन्थका अधिकसे अधिक प्रचार हो। हम भी सुन्दर से सुन्दर, सस्ते से सस्ता साहित्य, सनातन संस्कृति प्रेमी पाठकोंकी सेवामें समय समय पर समुपस्थित करनेकी चेष्टा करेंगे, किन्तु यदि पाठक हमारे कार्यों में सहयोग दें—सब प्रकार से हमारा उत्साह बढ़ावें—तब यह कार्य सुचारु रीतिसे सम्पन्न हो सकेगा। पाठक इन उपायोंसे इसमें सहयोग प्रदान कर सकते हैं।

(१) इन ग्रन्थोंको स्वयं पढ़ें, अपनी स्त्रियों और बाल बच्चों को तथा परिवारवालोंको पढ़ावें।

- (२) अपने परिचित बन्धुओंको इसका पाठक बनावें। प्रत्येक पाठक १०-२० अपने प्रेमियों को ग्राहक बनावे।

(३) यह पूरा ग्रन्थ इतना बड़ा होगा, कि इसे साधारण आय वाले निर्धन पुरुष मूल्य देकर नहीं ले सकते। उनके लिये धनी मानी सामर्थ्यवान् पुरुष यह करे कि सार्वजनिक पुस्तकालयों में इस पूरे ग्रन्थको रखानेकी चेष्टा करें। रुपया पैसा दान देने से वो दिया और व्यय हो गया। यह दान ऐसा होगा, कि जब तक वह पुस्तकालय रहेगा दाताका नाम अमर रहेगा। जो भी पाठक पढ़ने ले जायँगे, वे ही उस पर दाताके नामकी मुहर देख कर उसे धन्यवाद देंगे। दाता सबको विद्यादान करनेके फलभागी बनेगे। विद्यादानसे श्रेष्ठ कोई दान नहीं। जो दाता जितनी भी पुस्तकें जितने भी पुस्तकालयोंमें देना चाहें, उन सबकी व्यवस्था हम करेंगे। समाचार पत्रोंमें सूचना निकलवा कर पुस्तकालयोंसे पत्र मँगायेंगे। दाता चाहे जिन पुस्तकालयों को दे सकते हैं।

(४) प्रचारकी दृष्टिसे लोगोंको इन कथाओंको सुनावें।

(५) तथा पाठक हमे आशीर्वाद दे, कि हम अपने इस कार्य में सफल हों।

अन्त मे हम परम पिता परमात्मासे प्रार्थना करते हैं, कि हम इस कामको विशुद्ध भगवत् सेवा समझ कर करें, जिससे देशका धर्मका तथा समस्त विश्वका कल्याण हो।

सकीर्तन भवन,
प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग)
पौष कृ० ३ स० २००७

व्यवस्थापक—

मेरा पतन् ?

शिर शार्वं स्वर्गात् पशुपतिशिरस्त क्षितिधरम् ।
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ॥
अधोऽधोगङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा ।
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपात शतमुख १ ॥

(श्रीभर्तृ० नी० श० श्लो०)

अब से २३-२४ वर्ष पूर्व वाराणसीमे कुछ काल मैंने साहित्यिक जीवन् व्यतीत किया था। उस समय हृदयमे कुछ वैराग्य था, भगवान्को पानेकी अभिलाषा थी। साहित्यिक जीवन मुझे अच्छा नहीं लगा। भगवान्से प्रार्थना की—"प्रभो! मुझे लेखक, प्रकाशक मत बनाना। अपने चरणोंकी भक्ति प्रदान करना। तुम्हारे चरणारविन्दके मकरन्दका पान करने वाला मत्त मधुप बनूँ। सिड़ी पागलोंकी तरह स्वेच्छाचारी पक्षियोंकी, तरह, वन में विहार करने वाले जन्तुओंकी तरह आपकी स्मृति में ही उन्मत्त हुआ विचरूँ, विश्व ब्रह्माण्डकी बातें सब विस्मृत हो जायँ।" इसके लिये प्रयत्न भी किया, न लिखनेका नियम भी किया, किन्तु विधिके विधानको व्यर्थ करनेकी सामर्थ्य किसमें है। प्रारब्धको पुरुषार्थसे हटानेका साहस कौन कर सकता है? वयमाताके लेख पर मेख कौन मार सकता है? मेरा जो भी कुछ वैराग्य था, वह कर्पूरकी भाँति उड़ गया, अब कुछ है भी तो जैसे कर्पूर उड़ जानेपर भी डिबियाम सुगंधि बनी रहती है वैसा ही समझिये।

---

१ विष्णुपादाब्ज सभूता भगवती भागीरथी श्रीविष्णुपद स्वर्गसे पतित होकर शिवजीके सिर पर, वहाँसे हिमशैल पर, वहाँसे पृथ्वी पर, पुन पृथ्वीसे बह कर समुद्रमें मिल गयीं। इसी प्रकार जो विवेक भ्रष्ट पुरुष हैं, एक बार नीचे गिरने पर फिर गिरते ही जाते हैं। उनकी उत्तरोत्तर अवनति ही होती जाती है।

कहावत है "बुखार और वैराग्य सदा एक-सा रहता नहीं।" जिसे सदा बना रहे, तो वह बहुत दिन मर्त्यलोकमें फँसा नहीं रह सकता। मनुष्यका शरीर सत्व, रज और तम इन तीनों गुणोंसे बना है। जैसे समुद्रमें सदा छोटी-बड़ी अथवा मध्यकी ऊर्मियाँ उठती रहती हैं वैसे ही मनुष्य शरीर में त्रिगुणमयी लहरें उठती रहती हैं। जब सत्वगुणकी वृद्धि होती है, तो विषयोंसे वैराग्य, परमार्थ चिन्तनकी अभिलाषा होती है। सब ओरसे प्रकाश दीखता है और संसारी विषय काटने को दौड़ते हैं। उसी अवस्थामें मनुष्य संसारी बन्धनों को त्याग कर वैराग्यका आश्रय लेकर एकान्तवास करनेको निकल पड़ता है। जिनके पूर्व जन्मोपार्जित असंख्यों पुण्य कर्म हैं जिन्होंने अनेकों जन्मोंमें साधना की है। उनका एकान्तमें भगवान्‌के चिन्तनमें मन लगता है और वे इस संसार बन्धनको काटकर परम पद प्राप्त कर लेते हैं, मुक्त हो जाते हैं। ऐसे योगभ्रष्ट कोई विरले ही होते हैं। उनका वैराग्य कभी उतरता नहीं। राजयक्ष्माके ज्वरके सदृश वैराग्य उन्हें सर्वदा बना ही रहता है।

कुछ ऐसे होते हैं, कि सत्व गुणके प्राबल्यसे पहिले तो उन्हें वैराग्य होता है, किन्तु कालान्तरमें वह वैराग्य क्षीण होता जाता है। वैराग्य क्षीण होनेपर तो यह संसार असत्य रहता नहीं, फिर तो इसके सभी पदार्थ सत्य प्रतीत होते हैं। रोग होनेपर औषधि भी चाहिये, औषधि मिलती है पैसोंसे। पैसा रहता है धनिकों पर, धनिक प्राय. होते हैं विषयी। वे बिना किसी स्वार्थके पैसा देते नहीं। इसलिये प्रभाव जताकर, सिद्धि दिखाकर, धर्मकी आड़ रख कर, परलोकका भय दिखाकर, स्वर्ग आदिका लोभ देकर, जन्त्र, मन्त्र जादू, टोनाकी प्रशंसा आदि करके जैसे भी हो उनसे धन लेने की वासना होते है।

उसकी पूर्ति करनेके लिए सामग्री जुटानी पड़ती है, दूकान लगानी पड़ती है। घूम फिर कर वही ससार फिर आ जाता है।

जिन्होंने आरम्भसे ही स्वार्थ सिद्धिके लिये बनावटी वैरागीका वेप बनाया है, उनकी बात तो छोड़ दीजिये। उन्हें तो कभी वैराग्य हुआ ही नहीं। वे तो विशुद्ध दम्भी हैं ही किन्तु जिनके जीवनमें सचमुच कभी वैराग्य हुआ है और पीछेसे वैराग्य शिथिल पड़ गया है उनकी अन्तमें दो दशायें होती हैं—एक तो विषयोंमें फँस जाते हैं दूसरे किसी पारमार्थिक व्यापारमें।

सबको नचानेवाले श्रीहरि ही हैं। सभी जीव उन्हींके सकेत से नाच रहे हैं। जीवोंका अभिमान व्यर्थ है। वे जिस समय जिससे जो कराना चाहते हैं उसे वैसी ही बुद्धि दे देते हैं।

प्रकृति वश ही कभी न कभी कुछ लिखने को मैं बाध्य हो जाता हूँ। यह परोपकार है, साहित्य सेवा है, पारमार्थिक उन्नतिके प्रचारका साधन है, ये सब तो मनको लगाये रखने की बातें हैं। वे प्रभु ही सब कुछ करा रहे हैं, उनकी प्रेरणाके बिना प्राणी कर ही क्या सकता है? फिर भी मैंने यह कभी नहीं सोचा था, कि मुझे प्रकाशन कार्य्यमें भी सहयोग देकर एक नये व्यवसायका सृजन करना पड़ेगा। सहसा तो कोई काम होता नहीं। उसका बीज बहुत दिनसे बनता रहता है, लोगोंपर प्रकट तब होता है, जब वह मूर्तिमान् होकर सम्मुख आ जाता है। वृक्षके भीतर ही भीतर फल बनता रहता है। जब वह बाहर दीखने लगता है, तो हम कहते हैं 'देखो, इसमें सहसा फल निकल आया।' इसी प्रकार यह प्रकाशन का सकल्प लोगोंके मनमें चिरकाल से था, अब समय आने पर सहसा व्यक्त हो गया। कई बार मेरे सम्मुख यह प्रस्ताव हुआ, मैंने उसका विरोध किया। इसीलिये कि मैं इस कार्यके सर्वथा अयोग्य हूँ।

इस वर्ष जब से "अष्टादश पुराण सत्र" आरंभ हुआ रामजी ने कई बार बड़े आग्रह के साथ कहा—"महाराज, जी हमारी बड़ी इच्छा है, हम प्रकाशनका कार्य आरम्भ कर दें।"

मैंने कहा—"भैया! देखो, यह काम हम लोगोंके वशका नहीं। यह तो जिनके वंश परम्परासे चला आ रहा है वे ही इस कार्यको सुचारु रूपसे कर सकते हैं "जाको काम वाही कूँ छाजे, नहीं तो गदहा छुटि मोंगरा बाजे।" धोबीका लड़का ही सुन्दरतासे कपड़े धो सकता है। अपने लोग माला झोली खटका सकते हैं। सत्यनारायणकी कथा बाँच सकते हैं, पाठ पूजन कर सकते हैं। यह व्यापार तो व्यापारवालोंको ही शोभा देता है। एक कहावत है—

> "खत्री दाता लाखमें, कायथ सौ में सूम।
> बनिया बूँग हजारमें, बामन बूँग ही बूँग॥"

बूँग कहते हैं व्यवहार अकुशल को, चुस्ती चालाकीसे रहित को। बनियोंके बालकोंमें बाल्यकालसे ही बूँगपने का अभाव रहता है। छोटा सा बनियेका बालक बड़ों-बड़ोंके कान काट लेता है। दक्षिणकी यात्रामें जब मैं गया था, तब एक १३-१४ वर्षका मारवाड़ी बालक मेरे डिब्बेमें आ बैठा। खन्डवाके आस पासकी बात है। बड़ा चैतन्य, बड़ा शिष्ट, बड़ा ही कार्य-दक्ष प्रतीत हुआ। बातों ही बातों में मैंने पूछा—"भैया, कहाँ जा रहे हो?" उसने कहा—"जी, मेरा अमुक जगह फर्म है। वहाँ उसका काम देखने जा रहा हूँ।" मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा—"भैया, तुम अकेले कैसे जा रहे हो, तुम्हारे पिता, भाई कोई साथ नहीं, मुनीम-नौकर कोई लिया नहीं। बड़ा साहस है तुम्हारा, अकेले ही जा रहे हो।" बच्चा हँस पड़ा और बोला—"जी, इसमें

साहसकी क्या बात है, सी० पी० में मेरी कई जगह फर्में हैं, मैं सदा ऐसे ही जाता हूँ। पिताजीका देहान्त हो गया, भाई मेरे कोई है नहीं। मैं ही दो सालसे काम देखता हूँ। नौकर स्टेशन पर मुझे बैठा गया था। वहाँ स्टेशन पर मुनीम मिलेगा, उसे तार दे रखा है, फिर एक आदमीका किराया व्यर्थ खर्च क्यों करूँ?" मैंने अपना माथा ठोका। अपने यहाँ गांवोंमें १२-१३ वर्षके लड़के धोती बाँधना नहीं जानते। दो पैसे का साग नहीं ला सकते। यह पट्ठा इतने बड़े फर्मका काम सम्हाल रहा है।"

बात यह है, कि अब तो वृत्तिसंकर, वर्णसंकर, आश्रम संकर हो गया है। पहिले कुल परम्पराकी सदोष वृत्तिको भी मनुष्य जान बूझ कर नहीं त्यागते थे। महाभारतका इतना भारी युद्ध इसी आधार पर हुआ। धर्मराजने कहा—"हम समर्थ होकर, दूसरेके आश्रयमें रहकर, भीख माँगकर दिन नहीं काट सकते। यह हमारे वर्णधर्मके अनुकूल नहीं है।" वंश परम्पराकी वृत्तिमें अपने पूर्वजोंके संस्कार हमें स्वतः प्राप्त होते हैं। आज सभी अपनी कुलागत वृत्तिको छोड़कर अन्य-अन्य वृत्तियोंका आश्रय ग्रहण करने लगे हैं। कालधर्म है, अब उन पैतृक वृत्तियोंसे काम भी नहीं चलता, जीवन निर्वाह नहीं होता। विधर्मी लोगोंके संसर्गसे हमारी वह धारणा नष्ट प्राय हो चुकी है। अब तो जैसे भी हो तैसे, पेट पालना ही धर्म रह गया है। समयका प्रभाव है।

अरे, यह तो मैं बहक गया, प्रसंगान्तर कर बैठा। हाँ, तो रामजीको तो यह समझा दिया। किन्तु माघ मासमें वीरम बाबू आये। उन्होंने भी इस बात पर बल दिया, कि पुस्तक यहीं से प्रकाशित हो हम लोग भी यथाशक्ति देख रेख करेंगे। चैत्र के उत्सव पर सभी जुटे थे, शंकरजी, वीरमबाबू, हरिशंकरबाबू,

फयूलसिंहजी, दादूजी, सेक्रेटरीसाहब, रायबहादुरसाहब ! सबने मिलजुल कर यही तय किया कि अच्छा है जैसे और कार्य होते हैं, यह भी हो। आपको कुछ करना न पड़ेगा, हम सब देख-रेख करेंगे। शंकरजीने अपने जिम्मे देख-रेखका काम लिया, और कहा—आप तीन चार खण्ड अपनी देख-रेखमें निकलवा दें, फिर आप देखें भी नहीं।"

मैं तो सब समझ रहा था। ये सब मुझे फँसानेके चक्कर हैं। ये भक्त लोग ही चाहें तो पंख लगाकर आकाशमें उड़ा सकते हैं और चाहें तो ठेलठालके रसातलमें पहुँचा सकते हैं। सब समझते हुए भी मेरी वासना कहिये, लोभ कहिये, मान प्रतिष्ठाके प्रकारकी अभिलाषा कहिये, या प्रारब्धका चक्कर कहिये, मैंने इसे स्वीकार कर लिया। उसीके फल स्वरूप यह प्रथम खण्ड निकल कर पाठकोंके कर कमलोंमें उपस्थित है।

यद्यपि नियमानुसार मेरा इस प्रकाशनसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। मेरी अन्य बहुत-सी पुस्तकें भिन्न-भिन्न प्रकाशकोंके यहाँसे भिन्न-भिन्न समयोंमें निकली हैं। वैसी ही यह भी एक निकल रही है। नयी बात तो कोई हुई नहीं, किन्तु इस बातको छिपाना दम्भ या महापाप होगा, कि अन्य प्रकाशकों की अपेक्षा इस पुस्तकके प्रकाशकोंसे मेरा घनिष्ट ममत्व है, और अनर्थ की जड़—पतन का कारण—ममत्व ही है। घरकी बिल्ली चूहोंको खाती है, तो दुःख नहीं होता, किन्तु जब पींजड़े के तोतेको खा जाती है तो दुःख होता है। यद्यपि चूहे तोते दोनों ही घरके ही जानवर हैं, किन्तु तोतेमें ममत्व है, चूहों में नहीं। अन्य प्रकाशकोंकी अपेक्षा इन लोगोंके हानि लाभ की ओर विशेष ध्यान जाता है। यही मेरा पतन है। किन्तु यह पतन मैंने जान बूझ कर स्वीकार किया है। यह सोच कर

कि इस कार्यका भगवत् चरित्रोंसे, भागवतोंकी कथाओं से, भगवन्नाम संकीर्तनके प्रचार, और प्रसारसे सम्बन्ध है। यदि इस विषयमें मैं सदा जागरूक बना रहा, इस लक्ष्यका सदा स्मरण बनाये रखा, तब तो पतन होने पर भी मैं उत्थान की ओर अग्रसर हो सकूँगा। यदि इस लक्ष्यसे च्युत होकर लाभ हानिके चक्करमें फँस गया, तब तो शुद्ध पतन है ही। अनेक व्यापारियोंके साथ हम सबकी भी गणना हो जायगी।

इस प्रथम खण्डके प्रकाशनमें जो-जो असुविधायें, जो-जो विघ्न बाधायें हुईं, उन सबका विस्तारसे वर्णन किया जाय, तो इससे भी बड़ा एक पोथा बन जायगा। फिर यह भागवती कथा न रह कर "प्रकाशन दुःख रोदन कथा" हो जायगी, जिससे पाठकोंका कोई सम्बन्ध नहीं। भोजनालयमें वर्षाके दिनोंमें गीली लकड़ियोंसे भोजन बनानेमें, नये रसोइयेको कितना क्लेश होता है, इसे "रसोइया महाराज" ही जान सकते हैं। गृहस्वामीके परिवारवालोंको तो बने बनाये भोजनसे काम। तिसपर भी ठीक न बना, तो दाल घुली नहीं, साग में पानी अलग-अलग दीखता है, रोटी कची है, चावल मे किनकी हैं— ये सब उपालम्भ भी देते हैं। उनका करना ठीक भी है। रसोइया इसी बातकी नौकरी पाता है। नहीं काम कर सकते, तो अपना रास्ता लो जी। 'खरी मजूरी चोखा काम' कोई अहसान तो हमारे ऊपर कर ही नहीं रहे हो। इसीलिये प्रकाशन की असुविधाओंको यहाँ नहीं कहूँगा। यद्यपि मैं तो शरीर से, नियमकी रस्सीमें कसकर बँधा हूँ, कहीं जा आ नहीं सकता। दौड़ धूप करनेवाले व्यवस्थापकजी, आदि-आदि हैं, फिर भी मानसिक संकल्प तो देना ही पड़ता है। यह नहीं

हुआ, यह नहीं हुआ, समय पर नहीं निकलेगी आदि-आदि ? यह ही मेरे लिये क्या कम झंझट है ?

इसीलिये भैया चाहे चोंई पें करो, चाहे चें करो। ३-४ खण्ड तो अब मैंने कह दिया है, तो जैसे तैसे निकलवा ही दूँगा। फिर भैया तुम जानों तुम्हारा काम जानें। चौरम बाबू जानें चाहे सूर्य नारायण बाबू, आदित्यबाबू जानें, विपिन जी जानें चाहे परमहंसजी, रामजी जाने चाहे शंकर जी। अपने राम तो फिर हाथ जोड़ देंगे। इस विषय मे अपनी प्रवृत्ति भी नहीं, योग्यता भी नहीं। इससे कहा, उससे कहा, इसकी चिन्ता—यह मुझसे होने का नहीं। सो भैया ! हमारे वश का तो यह झंझट है नहीं। हम तो स्पष्ट कह देंगे—

> सोलह रोटी खाउँ, भरोसो रामको।
> मेरे वशकी नाहिं, धँसो कोइ गामको॥

किसी गाँवमें कुआ बन रहा था। पक्के गोलेको बनाकर उसे जो नीचे गरकाते हैं उन्हें 'सेहा' कहते हैं। एक बटोही जा रहा था। उसे बड़ी भूख लग रही थी। उसने युक्ति निकाली कि किसी तरह पेट भरना चाहिये। वह कुएके पास गया। इधर उधर झाँकने लगा, कुए वालोंने समझा यह भी कोई 'सेहा' होगा, पूछा—"आप भी कुछ सेहाई जानते हैं क्या ?" उसने उपेक्षाके स्वरमें कहा—'अजी, ऐसी ही कुछ थोड़ी बहुत।' घरसे रोटी आयी हुई थीं। कुएवालोंने कहा—"अच्छी बात है पहिले आप रोटी खालें।" यही तो उसे अभीष्ट था। मोटी-मोटी रोटी चनेके सागके साथ १६ खा गया। खाकर ऊपरसे मट्ठा पिया, पेट भर गया। हुक्का तमाखू पीकर जब स्वस्थ हुआ, तब लोगोंने कहा—"अब चौधरीजी, घुसिये कुएमें।" तब चौधरी महोदय हाथ जोड़कर बोले—

"सोलह रोटी, खाउँ, भरोसो रामको।"
मेरे वशकी नाहि, धँसो कोइ गामको॥"

सो, भैया! लिखवानेके लिये, मुझसे सिर पर चढकर चाहे जितना लिखवा लो। महीनेमें यदि दो खंड भी निकालो तो रो गा-कर पूरा कर दूँगा, किन्तु यह प्रकाशन का रोग मेरे वश का नहीं है। लिखनेमें भी जब कोई हर समय खोदता रहे, तब हो सकता है। अब तक यही क्रम रहा, जो लिखी जाती उसकी कथा कहनेवाला नित्य कथा कहवा रहा है। शीघ्र लिखने में बहुत-सी अशुद्धियाँ भी मुझसे रह जाती हैं। लिखकर दुबारा पढने का समय नहीं। सोचा था, प्रूफमें ये अशुद्धियाँ दूर हो जायँगी। किन्तु मैं गंगा के इस पार झूसीमें और छपाई गंगाके उस पार प्रयाग में, सो भी बड़े झंझटसे, बड़ी शीघ्रतामें हुई, प्रूफ न देख सका। यदि अशुद्धियाँ रह गई हों, तो पाठक उन्हें स्वयं शुद्ध कर लें और हमारी विवशता पर ध्यान देकर क्षमा करें।

जितनी सुन्दर निकालनेकी यहाँके कार्य-कर्त्ताओंकी अभिलाषा थी, उतनी सुन्दर वे न निकाल सके। क्योंकि ग्रीष्मावकाश के अनतर सभी विद्यालयोंके खुलने का यही अवसर था। सभी प्रेस पाठ्य-पुस्तकों और विद्यालय सम्बन्धी कार्योंमें व्यस्त रहे। चित्रोंके, ब्लाक आदि भी सुन्दर, समय पर न बन सके। इन सब साधन सामग्रियोंके मिलनेमें आजकल बड़ी असुविधायें हो गयी हैं। किन्तु पाठकोंने इसे अपनाया तथा उत्साह पूर्वक इसके प्रचारमें सहयोग दिया और शीघ्रातिशीघ्र यथेष्ट स्थाई ग्राहक बन गये, तो हमें आशा है कार्य-कर्त्ता आपकी सुन्दर से सुन्दर, ठोस और सुविधाजनक सेवा कर सकेंगे।

यह सब तो हुईं व्यवहार की बातें। अब अन्त में मेरी 'भागवती कथा' के पाठकों से एक ही प्रार्थना और है, वह यह

कि वे मुझे उदारता पूर्वक यह आशीर्वाद दें, कि मेरी श्रीहरिके चरणारविन्दोंमें अहैतुकी भक्ति हो। 'भागवती कथा' को भगवद् भक्त ही पढ़ेंगे। जिनके हृदयमें तनिक भी भक्ति न होगी, उनके हाथमें तो यह जायगी ही नहीं। यदि भूलसे चली भी जायगी, तो, वे देखकर नाँक भौं सिकोड़ कर रख देंगे, पढ़ेंगे नहीं। पढ़ेंगे वे ही, जो भगवद् भक्त होंगे, अथवा भक्त बननेके उत्सुक होंगे। ऐसे भगवद् भक्तोंका हृदयसे दिया हुआ आशीर्वाद कभी विफल नहीं होता। यदि सभी मुझे आशीर्वाद देंगे, तो इस पतनसे भी मैं निकलकर उत्थान-पथकी ओर अग्रसर हो सकूँगा और सब से श्रेष्ठ उत्थान यही है, कि निरतर भगवत् स्मृति बनी रहे।

"हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणी"

त्रिवेणी संगम में — भागवतोंकी चरण-रज
संकीर्तन भवन प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग) — प्रभुदत्त
आषाढ़, शुक्ल ११, सं० २००३ वि० -

विशेष—मैं इस मैलेकी टोकरीको अभी तक ढो रहा हूँ। ३, ४ खण्डोंके स्थान में ३८ खण्ड छप गये। प्रकाशनके झंझट से पृथक् नहीं हो सका। कब करोगे मेरे प्यारे कृष्ण ! या इसी व्यापार वाणिज्यमें लगाये रखोगे ? पूजा, पाठ, ध्यान, स्मरण सबमें दंभ आ गया।

'भूल गयी राग रंग भूल गयीं हेकड़ी।
तीन चीज याद रह गईं, नोंन तेल लकड़ी॥'

प्रकाशन, प्रूफ और पैसाकी चिंतासे कब मुक्त करोगे मेरे नाथ ! झूसी, पौष कृ० ८। २००७ —प्रभु

❀ श्रीहरि ❀

भागवती कथा

(भूमिका)

त्रिवेणीं माधव सोम भरद्वाज च वासुकिम् ।
वन्देऽक्षयवट शेष प्रयाग तीर्थनायकम् ॥१॥

छप्पय

तीरथराज प्रयाग याग कमलासन की हैं।
अक्षयवट वर विटप मनोवांछित फल दीन्हें ॥
गगा यमुना रलीं मिलीं मन मोद बढायो।
सोमेश्वरने जहाँ सोमको शाप छुड़ायो ॥
वेणीमाधव बसें वर, बारह वेष बनायकें।
वन्दन करि विनती करें, चरण कमल सिर नायकें ॥

जगदुद्धारिणी श्रीगगाजी जहाँ आकर पटरानी श्रीयमुनाजी से मिली हैं, उस परम पावन पुण्य प्रदेश प्रयागराज की महिमा का वर्णन कर ही कौन सकता है? जहाँ कभी भी

---

१ श्रीत्रिवेणी, श्रीमाधव, श्रीसोमेश्वर, श्र भरद्वाजमुनि, श्रीवासुकि, श्रीअक्षयवट, श्रीशेषजी तथा तीर्थनायक प्रयागराज में प्रणाम करता हूँ।

क्षय न होनेवाला नित्य शाश्वत अक्षयवट प्रतिष्ठित है, जहाँ गंगा, यमुना और सरस्वती की त्रैलोक्यको पावन करनेवाला त्रिगुणमयी त्रिदेवमयी तीन धाराएँ हैं, जहाँ बारह वेष बना कर श्रीमाधवजी नित्य ही निवास करते हैं, जहाँ शिवजी अपने अनेक अद्भुत रूप रखकर जिस क्षेत्र के चारों ओर विराजते हैं, जहाँ ब्रह्मदेव अक्षयवट के मूल में नित्य ही सन्निहित रहते हैं, उस तीनों देवों के निवासभूत प्रयाग क्षेत्र का माहात्म्य वर्णन करना सूर्य्य को दीपक दिखाने के ही समान है। स्वयं तीर्थराज समस्त त्रिभुवन के तारक तीर्थों के एकछत्र सम्राट् हैं। उनका अनन्त भंडार, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों से—निरन्तर बाँटते रहने पर भी—सदा भरा ही रहता है। करोड़ों तीर्थों की जिनकी बड़ी वेगवती और बलवती सेना है, उग्र से उग्र पापों के विनाश करने में जो सदा अव्यग्र भाव से तत्पर रहते हैं; गंगा, यमुना की उत्ताल तरंगें ही जिनके गंगायमुनी सितासित चँवर हैं, हरे-हरे पल्लवोंवाला अक्षयवट ही जिनका नीलातपत्र है; उन तीर्थराज की पावनता का वर्णन करना पवित्रता को भी संकोच में डालना है।

इस तीर्थनायक की इतनी पावनता से प्रसन्न होकर लोकपितामह ने इसे अपना क्षेत्र बनाया, इसलिये प्रयाग का दूसरा नाम 'प्रजापति क्षेत्र' भी है। कमलयोनि भगवान् ब्रह्मा ने यहाँ प्रकृष्ट-प्रकृष्ट यागों की झड़ी-सी लगा दी, इसीलिये यह 'प्रयाग' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यज्ञों की स्थिति बनाये रखने को वेदगर्भ चतुरानन ने यहाँ तीनों अग्नियों के तीन विशाल कुण्ड बनाये। इन तीनों के बीच से श्रीगंगा जी और यमुना जी बहीं। श्रीसरस्वती जी गुप्त रूप से आकर इन दोनों से

मिलीं। इसीलिये प्रयाग के षट्कोण और तीन विभाग हुए। षट्कोणवाला यह क्षेत्र तीन विभागों में बँटा है श्री गङ्गा यमुना के संगम पर खड़े होने से षट्कोण स्पष्ट दीखते हैं। दो तट गंगा जी के, दो तट यमुना जी के और दो दोनों की मिश्रित धारा के। गंगा-यमुना के बीच के भाग को जहाँ गार्हपत्याग्नि का कुण्ड था, उसका नाम प्रयाग हुआ। यमुना जी के पार जहाँ दक्षिणाग्नि का कुण्ड था उसे अलकपुर (अरैल) कहते हैं और जहाँ आह्वनीय अग्नि का कुण्ड था, गंगा के उस पार के पुण्य प्रदेश का नाम प्रतिष्ठानपुर (झूसी) है। पुराणों में प्रतिष्ठानपुर की बड़ी महिमा है। यहाँ सभी तीर्थों की प्रतिष्ठा होने से ही इसे प्रतिष्ठानपुर कहा गया है। त्रिवेणी संगम प्रतिष्ठानपुर (झूसी) के ही सन्निकट है। चन्द्रवंशी राजाओं की यह आदि राजधानी है। अब भी यहाँ अनेक तीर्थ हैं। उस पार दारागंज में जहाँ श्री ब्रह्मा जी ने दस अश्वमेध यज्ञ किये थे, उस दशाश्वमेध घाट के ठीक सामने इस पार झूसी में यज्ञ तीर्थ है। अब भी जब दीवाल बनाने को धरती खोदी गयी, तो उसके नीचे से यज्ञ भस्म की तरह बहुत सी मिट्टी निकली। अब, जहाँ नित्य पुराण-प्रवचन और कीर्तन होता है, जहाँ तुलसी-कानन और पुराण पठन होने से नित्य ही श्रीहरिका निवास है। उस पवित्र यज्ञतीर्थ में गुप्त और प्रकट रूप से बहुत से सन्त महात्मा एकत्रित होते हैं। परम्परा से ऐसी प्रसिद्धि है—और यह अनुभूत सत्य है कि हजारों, लाखों वर्ष के महात्मा गुप्त रूप से प्रतिष्ठानपुर (झूसी) में निवास करते हैं। प्रकट रूप से तो प्रतिष्ठानपुर (झूसी) साधु-सन्तों की बस्ती ही है। सन्त महन्तों के बहुत से आश्रम और कुटियाएँ श्री गङ्गा जी के

किनारे-किनारे बनी हुई हैं। यह दीन हीन,' मति मलीन, साधना विहीन क्षुद्र सेवक भी उसी यज्ञतीर्थ में निवास करता है। वैसे तो आस-पास और भी साधु, संन्यासी, विरक्त, ब्रह्मचारी रहते हैं, किन्तु हम लोग दो ही हैं—एक मैं और एक मेरा चेला।

आप कहेंगे आप इन चेला चंटारियों के चक्कर में क्यों फँस गये? जब आपने अपना घर छोड़ा, सब सम्बन्धों से मुँह मोड़ा, तो फिर अकेले विरक्त भाव से रहना चाहिये। शिष्य में और सुत में अन्तर ही क्या? दोनों ही बन्धन हैं। यह वैसी ही बात हुई—"खाई से निकले तो कुए में जाकर गिर पड़े" गृहस्थ से सम्बन्ध छोड़ कर तीर्थ में आये। यहाँ नयी गृहस्थी बना कर फिर फँस गये। फिर चेला बनाने से मान प्रतिष्ठा बढ़ती है, उसे स्वीकार करने से पतन होता है; अत पूजा प्रतिष्ठा से पृथक् रह कर चुपचाप शान्ति भाव से भजन करना चाहिये।

यह बात सत्य है, कि शिष्य बनाने से बन्धन हो जाता है। शिष्य लोग गुरु की पूजा प्रतिष्ठा अपना कर्तव्य समझ कर करते हैं। मान प्रतिष्ठा स्वीकार करने से पतन की सम्भावना भी पग-पग पर बनी रहती है। किन्तु मुझे बताओ, किस कार्य में पतन की सम्भावना नहीं? मैंने ऐसा सुना है, कि किसी प्रसिद्ध पुरुष ने जीवन भर एक भी मान-पात्र ग्रहण नहीं किया। जहाँ उसे मानपत्र देने का आयोजन होता, वहीं वह निषेध कर देता। उसने सम्मान का, मानपत्रों का, सदा त्याग किया। आप सोचिये मानपत्रों के ग्रहण का तो उसने त्याग कर दिया, किन्तु मानपत्रों के त्याग से जो शतगुणा सम्मान उनके ग्रहण न करने से हुआ, उसका वह त्याग कर

सका। वह इस बात का गर्व करता था—मैंने एक भी मानपत्र स्वीकार नहीं किया। 'मेरे ये सम्बन्धी हैं, मेरी यह जाति है, मेरा यह वर्ण और आश्रम है, इन बातों का त्यागी त्याग भले ही कर दे। वस्त्रों को—यहाँ तक कि लँगोटी को भी त्याग दे, किन्तु त्याग का अभिमान तो उसे बना ही रहता है। शिष्य करने से जो मान हुआ है, उससे बढ़कर जो शिष्य न करने का सम्मान और अभिमान है उसका जिसने त्याग किया है, वही तो सच्चा त्यागी है। नहीं तो शेष सभी व्यापार हैं, अधिक सम्मान प्राप्त करने के उपाय हैं, कि हम उन लोगों से श्रेष्ठ हैं, जो सब किसी को चेला मूड़ते फिरते हैं। हम किसी के कान नहीं फूँकते। कान न फूँको, उनके चित्त को तो खींचते हो, मानसिक चेष्टा तो ऐसी रहती ही है, यह हमारे ही यहाँ फँसा रहे, कहीं दूसरी जगह मुड़ न जाय। यह भी शिष्य करना ही हुआ, द्रविड़ प्राणायाम हुआ। इधर से नाक न पकड़ी घुमा फिरा कर पकड़ ली। जो कहता है—चेला नहीं करने चाहिये, मैं किसी को चेला नहीं करता, समझ लो वह सभी को अपना चेला बनाना चाहता है। नहीं उसे किसी से कहने का अधिकार ही क्या है। जगद् गुरु बनने की प्रत्येक प्राणी की स्वाभाविक इच्छा होती है। अपने पीछे अपना वंश बना रहे, यह कभी न मिटने वाली मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा है। जब तक पूर्ण ब्रह्मज्ञान नहीं होता, विशुद्ध-भक्ति की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक लाख प्रयत्न करने पर भी यह वासना नहीं जाती। आप चाहे एँ करें चाहे ये करें—यह रहेगी, रहेगी, अवश्य रहेगी। कोई इसे न मेट सका है, न मेट सकता है। प्रकारान्तर हैं, नहीं तो वे ही ढाक के तीन पात हैं।

वंश दो प्रकार का होता है। एक बिन्दुवंश, एक नादवंश।

जो अपने वीर्य से वंश चलता है—पुत्र पौत्र आदि—उसे विन्दु-वंश कहते हैं। इसका आधान मातृयोनि में किया जाता है। वहीं से यह वृद्धि को प्राप्त होता है। नादवंश उसे कहते हैं, जो मन्त्र परम्परा से बढ़े, इसका आधान कान में, हृदय में, मन में, गुरु करता है। इसी परम्परा को गुरु-परम्परा कहते हैं। एक से दूसरे पर शक्ति आती है। यह शिष्य, प्रशिष्य रूप में वृद्धि को प्राप्त होता है। इस वंश परम्पराको अक्षुण्ण बनाये रखने को सभी गृहस्थी सुयोग्य पुत्र की इच्छा रखते हैं और परमार्थ-पथ के पथिक—चाहे वे गृही हों या विरागी—सभी अपनी शिष्य परम्परा बनाये रखने को उत्सुक रहते हैं।

इस प्रकार दोष ही देखा जाय, तो सभी में कुछ न कुछ दोष अवश्य मिलेगा। संसार में भगवान् के सिवाय निर्दोष तो कोई है ही नहीं। अब रही यह बात, कि उस दोष का निवारण किस सरल उपाय से, किस उत्तम युक्ति से किया जाय, इसी का नाम साधन है। हाँ, विरक्तों के लिये बहुत शिष्य आदि बनाना निषेध है। जिनकी शिष्य बनाने की वृत्ति है, वे तो बनाने को विवश ही हैं किन्तु जो वृत्ति का त्याग करके विरक्त बने हैं, शास्त्रकारों ने उनको शिष्य आदि के चक्कर में पड़ने का निषेध किया है—

"न शिष्याननुबध्नीयात् ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून्"

भाषा में एक से अधिक जितनी वस्तु हैं, सब को 'बहु' संज्ञा है, किन्तु संस्कृत में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन इस प्रकार तीन वचन माने हैं। अर्थात् दो से अधिक जहाँ वस्तुएँ हुई उनकी बहुसंज्ञा हो जाती है। यहाँ "शिष्यान्" यह बहुवचन है। इसका तात्पर्य हुआ कि चाहे तो एक शिष्य या

बहुत से बहुत दो शिष्य बना ले। दो से अधिक शिष्य, त्यागी विरागी, संन्यास वृत्ति से वर्तनेवाले पुरुष को नहीं बनाने चाहिये। इसी प्रकार बहुत से ग्रन्थों का अभ्यास भी न करे। यहाँ अन्य ग्रन्थों के पढ़ने का ही निषेध नहीं है। 'अभ्यास' शब्द का अर्थ होता है. एक वस्तु की बार-बार आवृत्ति करना अर्थात् ग्रन्थों को प्रसंगवश देखना पड़े तो देख ले, किन्तु उपनिषद् ब्रह्मसूत्र आदि एक या दो ग्रन्थों की बार-बार आवृत्ति करता रहे।

इसी न्याय के अनुसार मैंने दो तो अभी नहीं बनाये, एक शिष्य बनाया है और एक ही ग्रन्थ—श्रीमद्भागवत् महापुराण परमहंस संहिता—की बार-बार आवृत्ति करना निश्चित किया है, क्योंकि इसमें उपनिषद् वेदान्त आदि सभी शास्त्रों का सार आ जाता है।[1]

मुझे निरन्तर श्रीमद्भागवत का ही पारायण करते देखकर एक दिन मेरे शिष्य ने पूछा—"महाराज जी आप श्रीमद्भागवत का ही सदा पाठ क्यों किया करते हैं?"

मैंने कहा—भैया, श्रीमद्भागवत तो सभी शास्त्रों का सार है। सभी वेद वेदान्त, इतिहास पुराणों का सार ले लेकर श्री शुकदेवजीने राजा परीक्षित् को सुनाया था।[2] जब सब का सार ही मिल गया, तब फिर अन्य शास्त्रों मे श्रम करना केवल भ्रम मात्र ही है।"

---

१ अर्थोऽय ब्रह्मसूत्राणां सर्वोपनिषदामपि।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ। श्रीमद्भागवताभिधः॥

२ सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्।
स तु संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम्॥

शिष्य ने कहा—"अच्छा, यह तो ठीक है; किन्तु आप श्रीमद्भागवत के बहुत से सप्ताह करते कराते हैं। जहाँ जाते हैं, वहीं करते हैं, इसका क्या अभिप्राय ?"

मैंने कहा—"तुम बड़े पागल हो जी! इतना भी नहीं समझते, सप्ताह किसे कहते हैं ? श्रीमद्‌भागवत का सात दिन में पारायण करने का नाम सप्ताह है।"

शिष्य शीघ्रता के साथ बोला—'नहीं महाराज जी! यह तो मैं समझता हूँ, सात दिन के पारायण को सप्ताह कहते हैं, किन्तु मेरे पूछनेका अभिप्राय यह है, कि हम सात दिन ही में क्यों करें ? एक वर्ष में करें, दो वर्ष में करें, ६ महीने में करें।"

मैंने कहा—'हाँ, यह भी ठीक है। सप्ताह पारायण को राजस बताया है। मासिक पारायण सात्विक है। एक वर्ष का तामस है। श्रीमद्‌भागवत के पाक्षिक, मासिक, वार्षिक सभी प्रकार के पारायण होते हैं।"

शिष्य बोला—"किन्तु महाराज जी आज कल सर्वत्र प्रथा तो 'भागवत सप्ताह यज्ञ' की ही विशेष है। पाक्षिक मासिक पारायण यज्ञ तो कहीं सुनने में नहीं आते।"

मैंने कहा—"भैया, देखो, सप्ताह यज्ञ का माहात्म्य विशेष माना गया है। पद्मपुराण के अन्तर्गत ६ अध्यायों में श्री मद्‌भागवत का माहात्म्य वर्णन किया है। वह प्रायः वर्तमान प्रचलित सभी श्रीमद्भागवत की पुस्तकों के साथ छपा रहता है। उसमें श्रीमद्भागवत के ही सप्ताह की प्रशंसा की है। उसी का गुण-गान किया है। और भैया! ठीक भी है। ये कलियुगी जीव बहुत लम्बा-चौड़ा व्रत, उपवास, अनुष्ठान कर भी नहीं सकते। सत्य शौचादि से युक्त होकर दीर्घ कालीन यज्ञ की दीक्षा में

स्थिर नहीं रह सकते। मन का चिरकाल तक निरोध नहीं कर सकते। उनके लिये यह सप्ताह यज्ञ, बहुत ही उत्तम है। सात दिन तक बहुत उत्साह बना रहता है। विघ्नों की सम्भावना नहीं रहती। इसलिये सप्ताह यज्ञ की प्रशंसा है और यह यज्ञ सर्वोपयोगी भी है। इसीसे इसकी सर्वत्र प्रशंसा है।"

शिष्य ने पूछा—"तब तो इस सप्ताह यज्ञ की प्रथा प्राचीन ही है।"

मैंने हँसकर कहा—"तो क्या मैंने अपने आप बना ली है? सनातन प्रथा है। महराज परीक्षित् को ऋषिकुमार ने शाप दे दिया था कि तुम्हारी मृत्यु सात दिन में हो जायेगी। इसीलिये भगवान् शुक ने उन्हें सम्पूर्ण शास्त्रों की सारभूत इस परमहंस संहिता को सात दिन में ही सुनाया था। तभी से सप्ताह की प्रथा चल पड़ी। फिर सनकादि मुनियों को नारदजी ने भी सप्ताह सुनाया। फिर सूर्यदेव की आज्ञा से गोकर्ण ने भी अपने भाई धुन्धकारी के उद्धार के निमित्त सप्ताह सुनाया। इस प्रकार यह सप्ताह की पुनीत परम्परा चल पड़ी।"

शिष्य ने श्रद्धा के सहित कहा—"महाराज जी! देखिये, महाराज परीक्षित् सभी शास्त्रों के ज्ञाता थे, वे धर्मात्मा और बहुश्रुत थे। सभी ऋषि मुनि पण्डित विद्वानों का वे सदा सम्मान और सत्सङ्ग करते रहते थे। उनकी लोक-प्रियता तो इसीसे सिद्ध होती है, कि जहाँ मुनियों ने उनकी मृत्यु का सम्वाद सुना, कि सभी देवर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि, राजर्षि, तथा अन्यान्य ऋषि मुनि, सिद्ध अपने-अपने शिष्य-प्रशिष्य, पुत्र-पौत्रों के सहित उनके समीप स्वतः ही दौड़ आये। जो मुनि बहुत बुलाने पर भी किसी के समीप नहीं जाते थे, वे बिना बुलाये

उनके पास अपने आप चले आये। जो शुकदेव जी जितनी देर में एक गौ दुही जाती है, उतनी देर से अधिक कहीं ठहरते ही नहीं, वे भी योगवल से सब जान कर व्यग्रता के साथ दौड़ आये और बिना कहे ही अपने आप आसन पर जा बैठे और सात दिन तक एक ही स्थान में रह कर कथा सुनाते रहे। इन सब बातों से पता चलता है कि महाराज बड़े गुणग्राही, शास्त्रों के ज्ञाता और विद्या-व्यासंगी थे। ऐसे तो वे श्रोता थे। उन्हें घेर कर जो ऋषि-मुनि बैठे थे, जिन्होंने परीक्षित् के साथ ही साथ श्रीभागवत सप्ताह सुना, वे भी एक से एक ज्ञानी-विज्ञानी, सर्व संशयछेत्ता, ब्रह्मवेत्ता तथा सर्व-शास्त्र विशारद थे। सप्ताह यज्ञ के ये सब तो श्रोता हुए। इनके अनुरूप ही वक्ता भी थे। श्रीशुकदेव जी के सम्बन्ध में तो जो भी कहा जाय वही कम है। उन्हें न कहने में श्रम हुआ और न राजा परीक्षित् को तथा अन्यान्य ऋषि-मुनियों को समझने में ही श्रम हुआ होगा। श्रीशुक शास्त्रों का संकेत करते गये, सर्व-शास्त्र संस्कारी श्रोता सुनते ही सब समझते गये। वहाँ तो सात दिन में ज्ञान-मुक्ति और भक्ति की प्राप्ति ठीक ही थी। यही बात कुमार और नारदजी के सप्ताह के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये। मैं यह नहीं कहता कि सप्ताह यज्ञ न हों। शास्त्रों की विधि है, तो अवश्य होने ही चाहिये। उन दिव्य मन्त्रवत् भागवत के श्लोकों को बिना समझे—श्रवण-मात्र से ही—पापों का क्षय तो होता ही होगा; किन्तु विशेष फल तो यथार्थ समझने से ही होता होगा।

उस समय सर्वत्र संस्कृत का प्रचार था, वक्ता बोलते गये श्रोता सुनते ही समझते गये, किन्तु अब तो उतना संस्कृत का प्रचार नहीं। पहले संस्कृत में पाठ करो, फिर भाषा में अर्थ करो। इतनी शीघ्रता से सब श्लोकों का सम्पूर्ण अर्थ भी नहीं

होने पाता, इसीलिये उसका सम्पूर्ण अभिप्राय समझ मे नहीं आता।"

मैंने कहा—"हाँ, भाई! यह तो तुम्हारी बात ठीक है। केवल शास्त्र—शब्द श्रवण मात्र का ही फल होता है। अर्थ तो सम्पूर्ण होता भी नहीं। होता भी है, तो सब श्रोता समझ नहीं पाते।"

इस पर शिष्य ने बड़ी विनय के साथ कहा—"तो महाराज जी, मेरी एक प्रार्थना है!",

मैंने कहा—"कहो, क्या बात है ?"

शिष्य बोला—' महाराज जी! मैं यह चाहता हूँ, कि आप भाषा मे श्रीमद्भागवत का भावार्थ समझावें। पद्य मे नहीं गद्य मे—क्योंकि पद्य को समझने के लिये भी बड़ी बुद्धि चाहिये। उसके लिये भी दूसरे समझाने वाले की आवश्यकता पड़ती है। पद्य में विस्तार से वर्णन तो होता नहीं। कम शब्दों में बहुत भाव प्रकट किये जाते हैं। अत साधारण पढ़े लिखे स्वय पढ कर उसे नहीं समझ सकते। गद्य मे तो चाहे जितना बढा दो। एक बात को बार बार विस्तार से समझा दो। उसमे कोई रोक टोक ही नहीं। इसलिये आप गद्य में ही समझावे। पद्य भी कहीं-कहीं हों वे भी सरल और सबके समझने योग्य हों।

' जब जीवन का एक मात्र ध्येय भगवत् और भागवतों का गुणगान ही है, तब समय का सङ्कोच न करें। विस्तार का भय न करें। आपने कहा—श्रीमद्भागवत सब शास्त्रों का सार है। इसलिये आप पहिले से सक्षेप में सभी शास्त्रों का सार सिद्धान्त समझावें, फिर यह बतावें, कि यह सिद्धान्त श्रीमद्भागवत मे कहाँ किस स्थल पर, किस रूप मे कैसे प्रकट किया है ? वेदों म किस विषय का विशेष विवरण है ? पहिले इसे बताइये। पुन

किस वेद का भाव श्रीमद्‌भागवत में कहाँ-कहाँ है? इसका उल्लेख करें।

स्मृति, धर्म शास्त्र, व्याकरण, शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त छन्द आदि वेदाङ्गों का विषय बताकर श्रीमद्‌भागवत में इनका किस जगह सन्निवेश है? यह समझावें। दर्शनों का प्रतिपाद्य विषय क्या है। न्याय दर्शन का मुख्य तत्त्व कौन-सा है? योग शास्त्र का अन्तिम लक्ष्य क्या है। सांख्य का संक्षिप्त सिद्धान्त बताइये। इसी तरह वैशेषिक, पूर्वमीमांसा का सार सिद्धान्त बताकर यह भी बतावें कि श्रीमद्‌भागवत में कहाँ-कहाँ इनके सिद्धान्तों का किस रूप से उल्लेख है? ब्रह्मसूत्रों का संक्षिप्त विवरण बतावें। वेदान्त का अभिप्राय समझावें। वेदान्त सूत्रों से अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, और द्वैताद्वैत किस प्रकार सिद्ध किया गया है? उन्हीं एक सूत्रों से भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्तों को किस प्रकार पुष्ट किया है? इसे बताकर यह बतावें, कि उनका बीज श्रीमद्‌भागवत में कहाँ और किस प्रकार है? क्योंकि श्रीमद्‌भागवत तो सभी वैदिक आस्तिक आचार्यों को मान्य है, उसका आदर सभी सम्प्रदायों में समान भाव से है। फिर यह बतावें कि ब्रह्मपुराण में किसका विशेष वर्णन है? श्रीमद्‌भागवत में ब्रह्मपुराण के कौन-कौन से विषय, कौन-कौन सी कथाएँ, किस-किस रूप में ग्रहण की गयी हैं? कौन-कौन से श्लोक ज्यों के त्यों भागवत में मिलते हैं और कौन से कुछ हेर फेर के साथ? इसी तरह पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, देवीभागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड पुराणों के भी सम्बन्ध में बतावें। उपपुराण और औपपुराणों में क्या विषय हैं?—उनके साथ

श्रीमद्‌भागवत का कहाँ-कहाँ कैसा सम्बन्ध है, इसे भी संक्षेप में बतावे। पुराणों के जो सर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय हैं, इनका विस्तृत विवरण बताइये। जैसे सृष्टि कैसे हुई, सृष्टि के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न पुराणों में कितने प्रकार के मत हैं, उनमें इतना भेद क्यों है, श्रीमद्‌भागवत में कैसे प्रकार से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है ? इस प्रकार दशों का विवरण बतावें।

भक्तिमार्ग के कितने भेद हैं, श्रीमद्‌भागवत में उनका कहाँ-कहाँ वर्णन है ? नाम महात्म्य और श्रीमद्‌भागवत में इसका कैसे कहाँ उल्लेख है यह भी बताइये। सभी उपनिषदों के कौन-कौन से विशेष वाक्यों का भागवती भाषा में कहाँ-कहाँ वर्णन आता है ? यह भी समझावें। महाभारत का सार सिद्धान्त बताकर फिर यह समझावें, भारत की कौन-कौन सी कथाओं के साथ भागवत का सामञ्जस्य है ? कौन सी कथाओं में किस कारण से कुछ अन्तर सा प्रतीत होता है ? श्रीमद्‌भागवत के स्तोत्रों का, स्थान-स्थान पर आयी हुई स्तुतियों का विशेष महत्त्व बताइये। उनकी विशद व्याख्या कीजिये। पुराणों की कौन-सी कथाओं को श्रीमद्‌भागवत में विशेष महत्व दिया गया है, इसे समझा कर इसका कारण बताइये। जो कथाएँ केवल संक्षेप में कह दी गयी हैं या जिनको सरल समझ कर संकेत ही कर दिया गया है, उन्हें अपनी भाषा में विस्तार के साथ समझावें। श्रीमद्‌भागवत पर संस्कृत में, भाषा में तथा अन्य भाषाओं में जो व्याख्या टीका हुई हैं, उनकी विशेषता बताइये। मैं इसके अतिरिक्त जो मैंने न पूछा हो और आपको हितकर प्रतीत हो, उसे भी समझावें। बिना पूछे भी कृपा करके बतलावें। मैं यह विषय-सूची नहीं बता रहा हूँ, न यही

निवेदन कर रहा हूँ, कि इतने ही विषय पर आप अपने विचार प्रकट करें। मैंने तो एक निर्देश मात्र कर दिया है। सङ्केत द्वारा अपना अभिप्राय समझा दिया है। अब आप जैसे उचित समझें—जिन-जिन विषय का समावेश करना चाहें वह—करें। ऐसी सरलता के साथ समझावें कि साधारण से साधारण भाषा पढ़ा हुआ व्यक्ति भी समझ जाय।"

अपने शिष्य की ऐसी लम्बी चौड़ी बातें सुनकर मैं बड़े जोरों से हँस पड़ा। हँसते-हँसते मैंने कहा—"तैंने ये सब बात कहाँ से रट ली? तू तो सुनी सुनायी बातें बक रहा है। अरे, मुझमें इतनी सामर्थ्य कहाँ? इन शास्त्रों का मैंने विधिवत् अध्ययन नहीं किया। कुछ समझता बूझता भी नहीं, ऐसी विशाल बुद्धि भी नहीं, योग्यता भी नहीं। फिर भी इतनी बातों को कैसे बता सकता हूँ? पगला कहीं का, चींटी से सुमेरु उठाने को कहता है। सरसों पर पृथ्वी रखने का प्रस्ताव करता है। सूर्य को दीपक में बिठाने की सोचता है। भैया, यह सब मेरी सामर्थ्य के बाहर की बात है। यह सब करना कराना तो अलग रहा, इसका सोचना भी मेरे लिये दुस्साहस ही है।"

शिष्य ने रिरियाते हुए कहा—"नहीं, महाराज जी! आप सब कुछ कर सकते हैं, आप सर्वज्ञ हैं। आपके लिये कोई कार्य कठिन नहीं। आपके सङ्कल्प की देरी है आप जो निश्चय कर लें और करने पर कटिबद्ध हो जायँ, तो न करने योग्य काम को भी सरलता के साथ कर सकते हैं।"

मैंने कहा—"तू मुझे क्यों बुद्धू बना रहा है। ठाकुर सुहाती मीठी-मीठी बातें कहकर क्यों मुझे भुला रहा है। मैं तेरी इन चाटुकारिता की बातों में आकर भूलनेवाला नहीं। मुझे अपनी अल्पज्ञता, अयोग्यता का पता है। तू भी जानता है, तू कुछ

अन्त करण से थोड़े ही कह रहा है। शिष्टाचार के ऊपर के मन से कह रहा है। तेरी प्रशंसा को सत्य समझ लूँ, तो मेरा पतन अवश्यम्भावी है। हाँ, यदि तू हृदय से मुझे ही क्या किसी पर अपना दृढ विश्वास कर ले, तो तेरा तो बेड़ा पार है। कुछ मेरे कारण नहीं, अपने विश्वास के बल पर तू तर जावेगा, किन्तु तुझे वह भी तो विश्वास नहीं है। भीतर से मुझे अयोग्य समझता है, बाहिर से दिखाने को सर्वज्ञ कह रहा है। मैं तेरे चक्कर में न आऊँगा।"

शिष्य ने कहा—"महाराजजी! देखिये, मैं झूठा, मैंने आपकी बात मान ली। अच्छा, थोड़ी देर को मान लो, आप में योग्यता भी नहीं, किन्तु श्रीमद्भागवत को तो आप मानते हैं?"

मैंने कहा—"कहाँ मानता हूँ भैया, उसे मान लूँ तो मेरा बेड़ा पार ही न हो जाय।"

शिष्य अपनी बात पर बल देते हुए बोला—"मान लो, आप मन से नहीं मानते, आपका विश्वास भी नहीं, किन्तु पाठ तो करते हैं। बिना कुछ थोड़ी बहुत श्रद्धा के कोई इतना परिश्रम कभी भी नहीं कर सकता।"

मैंने कहा—"हाँ भैया, पाठ तो करता ही हूँ; किन्तु बेमन से बेगार-सी टालता हूँ, बिना अर्थ समझे तोते की तरह रट जाता हूँ।"

अपनी बात बढ़ाने को वह बोला—"बिना अर्थ के ही सही, सेवन तो करते हैं। बलवाली औषधि बिना उसका बल-वीर्य समझे ही सेवन की जाय, तो क्या गुण न करेगी? अग्नि को अबोध बालक ही छुए, तो क्या वह न जलावेगी? विष को भूल में ही खा जाय, तो क्या वह अपना परिणाम न दिखावेगा?"

मैंने कहा—"हाँ होता क्यों नहीं बिना समझे भी पाठ करने से लाभ होता है। श्रीमद्भागवत का सेवन तो सभी प्रकार से श्रेष्ठ ही है।"

अपने पक्ष को प्रबल होते देख वह उल्लास से उछल पड़ा और बोला—"अच्छा जब श्रीमद्भागवत के सेवन से लाभ होता है, तो भागवत को तो आप श्रीकृष्ण का साकार वाङ्मय विग्रह बताते हैं ?"

मैंने कहा—"हाँ भैया, श्रीमद्भागवत में तो ऐसा ही लिखा है ?"

वह हँसते हुए बोला—"श्रीमद्भागवत मे तो ऐसा ही लिखा है, किन्तु उसे आप नहीं मानते ? क्यों यही बात है न ?"

मैंने कहा—"नहीं भाई! अब कैसे कहूँ कि मानता हूँ। मानता होता तो आज ऐसे माया मोह मे क्यों फँसा होता ? नहीं मानता, ऐसा कहने का भी साहस नहीं होता। आस्तिकता के विरुद्ध है और मैं अपने को आस्तिक कहता हूँ।"

शिष्य बोला—"अच्छा इससे यह सिद्ध हुआ, कि आप मानते तो हैं, किन्तु अपनी अयोग्यता के कारण उसकी शक्ति को धारण करनेमें अपने आपको योग्य नहीं समझते हैं ?"

मैंने कहा—"भैया, तैंने वकालत कब पढ़ ली ? तू तो बड़ी गहरी तर्क उपस्थित कर रहा है।"

वह कुछ कुपित होकर बोला—"आप देखिये, महाराज! मेरी हँसी न उड़ाइये। मेरी बात का उत्तर दें।"

मैंने कहा—"तेरी बात मूर्खता-पूर्ण है, उसका कुछ उत्तर नहीं। भाग जा, अपना काम कर!"

वह नहीं गया और कहता ही रहा—"जिन्हें आप साक्षात् भगवान् का रूप कहते हैं और ऐसा ही मानकर नित्य नियम से उनका सेवन आराधन करते हैं, फिर आप उनकी शक्ति पर विश्वास क्यों नहीं करते ? भगवान् सब कुछ करने में समर्थ हैं। भगवान् की बात तो अलग रही, भगवान् के भक्त ही असम्भव बातों को सम्भव बना देते हैं। ज्ञानदेवजी ने भैंसे के मुख से सबके सामने वेद पाठ कराया। रैदासजी ने समस्त ब्राह्मण पंक्ति मे अपने को बिठाकर दिखलाया, सबके सामने भगवन्मूर्ति को अपने पास बुलाया। और भी ऐसे अनेकों दृष्टान्त हैं। ब्राह्मण अपनी मन्त्रशक्ति से पाषाण प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा करके उसे देव बना देते हैं। जब भक्तों मे इतनी सामर्थ्य है, तो भगवान् तो जिससे भी जो चाहें करा सक्ते हैं। बालक से बालक को भी बुद्धि योग देकर बड़े-बड़े शास्त्र कहला सकते हैं। पाँच वर्ष के ध्रुव मे स्तुति करने की क्या सामर्थ्य थी, किन्तु भगवान् की कृपा होते ही उसने वेद, शास्त्र सम्मत कितनी भावपूर्ण स्तुति की। आप श्रीभागवत की शरण लें, वे ही आपको शक्ति प्रदान करेंगी।"

मैंने कहा—"करेंगी, तो क्या तुमसे पूछकर करेंगी। करेंगी तब देखा जायगा ?"

उसने निराशा के स्वर में कहा—"तो क्या मेरी प्रार्थना निष्फल ही जायगी ?"

मैंने कहा—"तेरी प्रार्थना ही असम्भव है। जो काम मेरे सामर्थ्य के बाहर है, उसे तू करने को कह रहा है।"

वह बहुत ही कुपित होकर बोला—"आप असम्भव असम्भव ही कह रहे हैं। संसार में असम्भव क्या है, फिर

आपको हमारा भी तो ध्यान रखना चाहिये। हम सदा आपकी सेवामें रहते हैं।"

मैंने कहा—"भैया, असन्तुष्ट क्यों होता है? तू नाम को ही चेला है। वास्तवमें मेरा गुरु है। सेवा वस्तु ही ऐसी है। जैसे सती साध्वी पतिव्रता स्त्री अपने अयोग्य पति को अपने सौजन्यसे, सद्व्यवहारसे अपने वशमें कर लेती है, जैसे भक्त भगवान्‌को अपने वशीभूत कर लेता है, भगवान् उसके पीछे पीछे फिरते हैं, उसी तरह तैंने मुझे अपने वशमें कर लिया है। एक तो मैं जन्म का रोगी ठहरा, फिर सुख से रहने की भी वासना है ही। मैं तेरे अधीन हूँ, यदि तू नहीं मानता तो एक उपाय है।"

उसने उल्लास के साथ कहा—"वह कौन-सा उपाय है?"

मैंने कहा—"देखो, नैमिषारण्य में जो ८८ हजार मुनि रहते थे, वे कुछ मर तो गये नहीं। वे हमारी तुम्हारी तरह बद्ध जीव तो हैं नहीं। वे नित्य जीव हैं। एक कल्प की उनकी आयु है। पृथ्वी पर कलियुग का प्रभाव देख कर वे यहाँ से जनलोक मे चले गये हैं। सूतजी वहाँ भी उन्हें नित्यप्रति कथा सुनाते हैं। उनके यहाँ साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक या वार्षिक पारायण का तो नियम है नहीं, नित्य ही कथा होती है। वे सब ब्रह्मज्ञानी ऋषि हैं। उन सब के कार्य लोक-कल्याण के ही निमित्त विशेष कर होते हैं। वे सर्वज्ञ ऋषि यह भी जानते हैं, कि अब पुण्य-भूमि भारत में संस्कृत विद्या का पठन-पाठन अत्यन्त ही अल्प हो गया है। केवल संस्कृत में कथा कहने से सर्व साधारण का उपकार नहीं हो सकता। अत: अब सूतजी वहाँ भाषा में ही कथा कहते हैं। उन

सर्वज्ञ ऋषियोंसे तो भूत, भविष्य, वर्तमानकी कोई भी भाषा अज्ञात नहीं है। वे तो गुणग्राही हैं, भाषा का वे निरादर नहीं करते। भाषा की कथा को ही वे बड़े प्रेम से सुनते हैं।

सूतजी जिस कथा को कहते हैं। उसे मैं सुन सकता हूँ और जैसा सूनूँगा वैसा लिखता जाऊँगा। तू पढ़ता जाना। अब तो योग्यता अयोग्यता का प्रश्न ही नहीं रहा। मैं तो एक लिखने का यन्त्र मात्र हुआ, किन्तु इसमें तेरी सहायता की अपेक्षा होगी।"

उसका मुख मंडल खिल उठा। वह उल्लास के साथ बोला—"हाँ, महाराजजी जो आप आज्ञा करेंगे, वह मैं करने के लिये तत्पर हूँ मुझे क्या करना होगा? आप उस सम्वाद को कैसे सुन सकेंगे?'

मैंने कहा—'भैया, इस वायु मंडल में जो भी शब्द बोला जाता है, उसका नाश नहीं होता। उसे युक्ति द्वारा सुना जाय, तो चाहे जहाँ की बातें घर बैठे सुन सकते हैं। इसी प्रकार जनलोक में जो सूत और ऋषियों का सम्वाद होता है, उसे हम और तुम दो ही एकाग्र होकर सुना करेंगे। तू अपनी चञ्चलता छोड़कर मेरी सहायता करना। मैं तेरी सहायता पाकर लिखता जाऊँगा, तू पढ़ता जाना, किन्तु यह काम महीने दो महीने का नहीं है, बहुत काल की अपेक्षा रखता है।"

वह बोला – 'अनुमान से कितना समय लगेगा?"

मैंने कहा—"पाँच सात वर्ष से क्या कम लगेंगे। इससे अधिक भी लग सकते हैं। तब तक तुझे एक ही जगह रहकर मेरे कार्यों में दत्तचित होकर सहयोग देना होगा।"

इसे सुनकर वह कुछ घबराया और सोच विचार कर बोला—"महराज जी, यह बात तो कुछ असम्भव सी है।"

मैंने हँसकर कहा—'तू अभी कहता था—असम्भव तो कुछ है ही नहीं। तुझे इसमें आपत्ति क्या है?'

उसने कुछ रुक रुक कर कहा—'नहीं, आपत्ति तो कुछ नहीं है, किन्तु मुझे तो आपके साथ रहकर नित्य नूतन पुरुषों से मिलने मिलाने की, नये-नये स्थानों में जाने की, बढ़िया-बढ़िया, सुन्दर सुन्दर माल उड़ाने की, अच्छी से अच्छी मोटरों में बैठने की, सुन्दर सुगन्धित माला पहनने की टेव पड़ गयी है। इसीसे मैं संशय में पड़ गया हूँ, कि इतने दिन एक जगह मेरा चित्त कैसे लगेगा?'

मैंने कहा—'देखो, चित्त लगने का उपाय तो मैं बताता हूँ। मेरे साथ सदा सेवा पूजा में जुटे रहा करो। कथा मंडप में जो कथा होती है, उसे सुना करो। कीर्तन होता है, उसमें सम्मिलित हो गये। मन की प्रसन्नता के लिये यहाँ इतनी लम्बी चौड़ी भूमि पड़ी है. इसमें भगवान् की पूजा के लिये सुन्दर सुन्दर पुष्पों के पेड़ लगाओ। गुलाब है, गन्धराज है, कुन्द है, गेंदा है वगर है, निवारी है, गुलाब्ची है, इनके पौधे लगाओ। वेला है, चमेली है, जुही है, मालती है, चम्पा है, इनकी लता लगाओ वेल चढ़ाओ। आम है, अनार है, अमरूद है, सन्तरा है, मौसमी है, जामुन है, कटहल है, कमला है, पपीते हैं, इनके फलदार वृक्ष लगाओ। रोज देखो, आज यह पौधा इतना बड़ा हुआ. आज यह लता इतनी बढ़ी, आज इस पर फूल आ गये। इन्हीं बातों में चित्त बहल जायगा। आशा लगी रहेगी। अबके इस पर फूल आ गये. अब इस पर फल आ जायँगे। इन मनुष्यों से बातें करने में तो यदि कोई सुन्दर हुआ, वाणी मीठी हुई, भक्त हुआ. गुणी हुआ तो उनसे राग होता है। कोई क्रोधी हुआ, हमारी बातों का खंडन करनेवाला

हुआ, उद्धत हुआ, अभिमानी हुआ तो उसे देख कर द्वेष होता है, किन्तु इन वृक्षों मे यह बात नहीं। प्रेम करनेसे ये बड़ा स्नेह करते हैं और समझनेकी शक्ति आ जाय, तो ये बातें भी करते हैं। किन्तु एक बात है भैया, रहना सावधान, नहीं तो कुत्ते को मारनेवाले की दशा होगी।"

वह बोला—"कुत्ते को मारनेवाले की दशा कैसी महाराजजी ?"

मैंने कहा—'रामजीकी सभामे एक कुत्तेने आकर भगवान्से निवेदन किया, कि अमुक व्यक्तिने मुझे बिना अपराधके मारा है। अभियुक्त बुलाया गया। पूछताछसे पता चला, कि वास्तवमें मारने वाला अपराधी है। उसने निरपराध कुत्तेको मारा है। अब भगवान् उसके लिये दण्ड सोचने लगे। तब वही कुत्ता बोला—'इसे मैं जो कहूँ वही दण्ड दीजिये। इसे अमुक मठका मठाधीश बना दीजिये।' उसकी यह बात सुन कर सभी सभासद हँस पड़े और बोले—'यह दण्ड हुआ या पारितोषिक ?'

तब उस कुत्तेने बताया—'प्रभो! मैं भी एक ऐसे ही मठ का मठाधीश था। उसका जो फल हुआ आप सब देख रहे हैं। इसलिये इससे बढकर मैं दूसरा कोई दण्ड इसके लिये उपयुक्त समझता ही नहीं।"

यह सुनकर वह बोला—"नहीं महाराज जी, इससे आप निश्चिन्त रहें।"

मैंने कहा—"मैं उड़ा-उड़ी करनेको थोड़े ही कहता हूँ। जब तक शरीर है, पृथ्वीपर ही रहना होगा। कहीं आकाशमें तो कुटिया बना ही न लोगे। प्रयागराजसे बढ़कर पवित्र तो

पापनाशक, परम पुण्यप्रद तीर्थ और कहाँ मिलेगा ? आयु भर रहो, किन्तु रहो सचेष्ट होकर।"

वह बोला—'जैसी भगवान्‌की इच्छा होगी वही होगा। हाँ, तो आप वह सम्वाद कब सुना करेंगे, कब लिखा करेंगे ? आप पर तो समय ही नहीं। हर समय व्यस्त रहते हैं।"

मैंने कहा—"भाई ! देखो, यहाँ तो समय मिलनेका नहीं। यहाँ तो सब समय का कार्य-क्रम बँधा है। प्रात अरुणोदय के पूर्व जो त्रिवेणी स्नान को हम तुम चलते हैं, उसी समय नौका में आते समय और जाते समय हम लिखा करेंगे। वह समय भी सुन्दर होता है, उस समय सम्वाद भी सुनायी देगा। गङ्गा जीके बीचमें लिखा जायगा, तो झूठ भी न होगा। जैसे कोई शपथ खाते हैं, कि हम इस बातको गङ्गाजीमें खड़े होकर कहते हैं। एक बात है, जब तक तुम मेरा साथ दोगे, एकाग्र होकर मेरे साथ सुनोगे, तनिक भी चञ्चलता न करोगे, तब तक तो मैं सुनकर लिख सकता हूँ, किन्तु तुमने जहाँ गड़बड़ की, कि फिर सब गुड़ गोबर हो जायगा। तब कुछ भी लिखा न जायगा। जब तक तुम्हारी मृत्यु नहीं होती तभी तक यह है। यदि तुम मर गये या मेरा तुम्हारा कोई और रास्ता निकल आया, तो यह सम्वाद अधूरा ही रह जायगा। रह जाय—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' इस मार्गमें किया हुआ थोड़ा भी कार्य बहुत से भयों से बचानेवाला होता है।"

उसने कहा—"हाँ महाराजजी, ठीक है। मुझे सब स्वीकार है। अब पहिले आप श्रीमद्भागवतमें आयी हुई, भगवान् और भक्तों के सम्बन्ध की जो कथाएँ हैं, उन्हें विस्तार के साथ, सब विषयोंको निःसंशय करते हुए, शीशे की भाँति चमकाते हुए अपनी भाषामें वर्णन करें। जब सब भागवती कथाएँ

हो जायँ, तब जो-जो विषय मैंने बताये हैं, उनका वर्णन करें। हाँ, तो आप जयार्थ मंगलाचरण करे—'ततो जयमुदीरयेत्.।''—

इस प्रकार हमारा और हमारे शिष्यका यह समझौता हो गया है। उसीके परिणाम स्वरूप यह ग्रन्थावली आरम्भ हुई है। इसका अन्त कहाँ और किस स्थलपर कब होगा? इसे सर्वान्तर्यामी हरि ही जानें। इससे यन्त्र को क्या काम? इसकी चिन्ता यन्त्री करेगा।

पाठक कह सकते हैं, कि महाराज! आपने इतना लम्बा चौड़ा गुरु प्रिय संवाद तो सुना डाला, किन्तु आपने अपने एक मात्र प्रिय शिष्य का नाम तो बताया ही नहीं। दीक्षा न देने पर भी बहुत-से लोग आपको अपना गुरु कहते हैं और आप कहते हैं—मेरा एक ही चेला है। यह भी आपकी बातों से मालूम पड़ता है- आपके अधीन नहीं, चञ्चल है। उसके नाम का तो पता चले। भगवान् न करे आपकी बीच में ही आँखें मिच जायँ तो आपका उसे उत्तराधिकारी तो बना देंगे।

हाँ, तो उस एक मात्र शिष्य का नाम है—'मेरा मन।' यथार्थ में शिष्य करने योग्य तो यही है। जिसने इसे दीक्षा देकर वशमें कर लिया, उसने जगत्‌को वशमें कर लिया। वह यथार्थ गुरु पद का अधिकारी बन गया। विना इसको वश में किये जो गुरु बन जाते हैं, वह तो व्यवहार है। परमार्थ में उसका यदि कुछ उपयोग होगा भी तो नहीं के समान ही। यह मेरा अलबेला चञ्चल चेला अभी वशमें नहीं हुआ। इसलिये मैं गुरु न कहला कर गुर ही हो सकता हूँ। व्यापारिक हिसाब जोड़नेके जो संकेत हैं, वे 'गुर' कहलाते हैं। जैसे—

'एक रुपये की जितने सेर, एक आने की उतनी छटाँक' यह एक गुर है। जैसे-एक रुपये की कोई चीज पौने दस सेर आयी, तो एक आने की पौने दस छटाँक हुई। इसमें हिसाब जोड़ने की आवश्यकता नहीं। एक आदमी का वेतन जितने आने रोज हो उन्हे दुगुने करने पर उस सख्या को रुपये मान कर उतने ही आने घटाने से एक मास का वेतन हो जायगा।' जैसे एक आदमी आठ आने रोज पाता है, तो आठ दूनी सोलह, सोलह रुपये मे से सोलह आने घटा दो। १५) एक महीने का वेतन हुआ। हिसाव फैलाने की आवश्यक्ता नहीं। इसे व्यापारिक गुर कहते हैं। अथवा गुरु न होकर गुड़ ही हूँ, जैसे गुड़ ईख को दवा कर मोटा और पुष्ट वनता है, पीछे मीठा समझ कर उसे लोग उड़ा जाते हैं।

या गुरु न होकर गोरू ही हूँ। बँगला में गुरु का गोरू की भाँति उच्चारण होता है। गोरू कहते हैं—गाय भैंस को। जब तक गाय-भैंस दूध दे तव तक अच्छी, जहाँ दूध न दिया फिर कौन पूछता है? पानी भी कोई समय पर नहीं पिलाता।

अथवा गुरु न होकर गरू हूँ। मारवाड़ी भाषा मे गुरु का उच्चारण गरू होता है। गरू कहते हैं भारी को। नौका में पार होने की आशा से बहुत से लोग बैठ तो जाते हैं, किन्तु जहाँ नौका गरू हुई कि स्वय तो डूबती ही है, अपने साथ उन बैठे हुओं को भी डुबा देती है।

इसलिये मैं इस अपने अनजान चेले को नित्य शिक्षा देता हूँ—'देख भैया, तेरे ही ऊपर मेरा गुरुत्व निर्भर है। यदि तू ठीक ठिकाने पर आ गया, तब तो ठीक ही है। तेरा भी उद्धार

मेरा भी उद्धार है। यदि तू लोभ में फँस गया और अपने अधीन करके मुझे विषयों के लालच में घसीट ले गया, तब तो नरक का रास्ता खुला ही हुआ है। कहावत है—

"लोभी गुरु लालची चेला, होय नरक में ठेलम ठेला।" यह मेरी आत्मकथा है। यही इस भागवती कथा के लिखने का कारण है। मैं अपने चेले के इस कार्य की प्रशंसा ही करता हूँ। किसी न किसी प्रकार से भागवत चिन्तन स्मरण का अवसर तो दिया। अब पाठक, इस गुरु शिष्य संवाद को यहीं समाप्त करके आगे सूत शौनक संवाद श्रवण करें।

छप्पय

सुरसरि उत्तर ओर त्रिवेणी पार मनोहर।
प्रतिष्ठानपुर यश तीर्थ झूसी अति सुन्दर॥
मनीराम मम शिष्य चपल चंचल अज्ञानी।
ताहीके प्रति सुधा सरिस रस कथा बखानी॥
दैहिक दैविक मानसिक, चाहेँ होहि भयनी व्यथा।
सब रोगनिकी एक ई, औषधि 'भागवती कथा'॥

———

जयार्थ

(२)

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्[1] ॥ १
(श्री भा० १ स्क० २ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

श्रीनारायण विमल विशाला पुरी निवासी।
नर नारायण ऋषी तपस्वी अज अविनासी॥
माता वीणापाणि सरसुती वाणी देवी।
कियो वेदको व्यास पराशरसुत गिरि सेवी॥
धरि सिर सबके पादकी, पावन पुण्य पराग अति।
मनूँ भागवत भव्य भव—भयहर भाषा यथा मति॥

जो आदि अन्त से रहित श्रीमन्नारायण हैं, जो भू-वैकुण्ठ श्री विशालापुरी मे सदा निवास करते हैं, जो चराचर जगत् के स्वामी हैं, जिनके श्वास प्रश्वास से प्रतिक्षण असंख्यों ब्रह्माण्डों की स्वत ही रचना होती रहती है। उन सर्वाधार, लक्ष्मीकान्त अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक, श्रीमन्नारायण भगवान् के पादपद्मों मे कोटि-कोटि प्रणाम हैं।

---

१ श्रीनारायण, नरोत्तम नर तथा सरस्वती देवी को नमस्कार करके, फिर जय भागवतादि ग्रन्थों का कहना चाहिये।

जिन्होंने दक्ष की पुत्री, धर्म की पत्नी जन्मदाता मूर्त देवी के गर्भ से अवतार लिया है। जो जन्म से ही त्यागी, विरागी तपस्वी हैं। जिन्होंने नैमिषारण्य पुष्करक्षेत्र आदि पावन तीर्थों को अपनी स्थिति से—तपस्या करके परम पावन क्षेत्र बना दिया है, शतक्रतु देवराज इन्द्र की भेजी हुई असंख्यों अप्सराओं तथा मन्मथ, वसंत, समीर आदि को जिन्होंने अपनी तपस्या में विघ्न करते हुए देखकर भी क्रोध नहीं किया, काम के साथ-साथ जिन्होंने क्रोध पर भी विजय प्राप्त कर ली है, जिन्होंने अपनी उरू से उर्वशी जैसी असंख्य अप्सराओं को उत्पन्न करके स्वर्ग के देवताओं को विस्मित बना दिया है, जो तपस्या में निरन्तर निरत रहते हैं, उन तपस्या की जाज्वल्यमान प्रत्यक्ष मूर्ति, नर नारायण दोनों भाइयों को मैं नत मस्तक होकर नमस्कार करता हूँ।

जिनके बिना विश्व में वर्णों का विभाग नहीं, अस्तित्व नहीं, जो सम्पूर्ण ज्ञान की प्रदात्री हैं, जिनकी वीणा की झंकार से ही सप्तस्वरों सहित सम्पूर्ण संगीत की उत्पत्ति हुई है, जिनके जगज्जननी, कुमारी आदि अनेक रूप हैं, उन भागवती सरस्वती देवी के चरणों में नम्र होकर मैं श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

जो भागवती सत्यवती में भगवान् पराशर के वीर्य से उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने एक वेद के चार विभाग करके संसार के कल्याणार्थ उन्हें सरल, सुगम बना दिया है, जिन्होंने स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धु—जो वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं हैं—उन पर कृपा करके पञ्चम वेद 'महाभारत' की रचना की है, जो भरतवंश की रक्षा करनेवाले और उसे उच्छेद से बचानेवाले

हैं, जिन्होंने वेदों के सम्पूर्ण अर्थों को पुराणों के द्वारा कथन किया है, जिससे सर्व साधारण पुरुष उस दुष्कर ज्ञान को सुगमता के साथ समझ सकें। जिन्होंने विविध धर्मों का संक्षेप और विस्तार के साथ वर्णन किया है, जो धर्म के रक्षक और प्रतिपालक हैं, जिन्होंने ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या करके उपनिषद् के वेदान्त वाक्यों की—जो परस्पर में विभिन्न से प्रतीत होते थे एकवाक्यता की है, जिन्होंने समस्त ज्ञान को उच्छिष्ट कर दिया है। (सभी लोग उसी उच्छिष्ट ज्ञान का भाँति भाँति से अपनी-अपनी भाषा में कथन करते हैं) जो साक्षात् श्रीहरि के अवतार हैं, जो एक मुख के प्रजापति और दो बाहुवाले विष्णु तथा द्विनेत्रवाले महेश हैं, जिन्होंने मानसिक खेद के व्याज में देवर्षि भगवान् नारद से भागवत ज्ञान प्राप्त किया है, जिन्होंने कलिकाल के अल्पमति, अल्पायु पुरुषों को अज्ञान सागर में डूबते देखकर श्रीमद्भागवत रूपी दृढ़ नौका बनाकर, स्वयं ही कर्णधार बनकर, उनके उद्धार के लिये प्रयत्न किया है। जिन्होंने सम्पूर्ण ज्ञान को सदाचारी ऋषियों में विभक्त करके लोप होने से उसकी रक्षा की है। श्रीमद्भागवत रूपी त्रैलोक्य पावन महान् स्वादु रस को बिना भेद भाव के वितरण करने के लिये अपने परम ज्ञानी, परम विरक्त सुत शुकदेव को उत्पन्न किया है। उत्पन्न होते ही जो संसार त्यागकर वन में चले गये थे, उन्हें बड़े कौशल से बुला कर जिन्होंने अधिकारी समझ कर उन्हें ही भागवतामृत वितरण करने के लिये नियुक्त किया है। जो ऋषियों में परम सम्माननीय हैं, जिनका ज्ञान सदा अकुंठित है, जो त्रिवर्ग साधन तथा मुक्ति साधन, सभी में समान रूप से निष्णात हैं। जिनकी दृढ़ नौका के सहारे अनेकों भूले भटके डूबते हुए जीव संसार सागर से सदा के लिये पार

हो गये हैं, उन शक्ति लोक पितामह पराशरजी के पौत्र ब्रह्माजी के सपौत्र, वशिष्ठजी के प्रपौत्र, भगवान् व्यासदेव के चरणों में हमारा श्रद्धाभक्ति सहित प्रणाम है। हे ज्ञान के निधि! हे जगदुद्धारक! हे परम गुरुदेव! हे विश्ववन्द्य! इस क्षुद्र जीवों पर कृपा करो। आपके परम पावन पद चिह्नों का अनुसरण करते हुए, मैं इस भाषा भागवत-तत्व को अपने जैसे विद्या बुद्धि-हीन पुरुषों के सम्मुख रख सकूँ। मुझमें विद्या बुद्धि नहीं, मुझे अपने विद्या बल का भरोसा नहीं। मैं समस्त साधनों से हीन हूँ, मति मलीन हूँ, दीनातिदीन हूँ। किन्तु एकमात्र आपकी अहैतुकी कृपा का ही भरोसा करके सन्त महात्माओं के मनोगत भाव जानकर उनकी आन्तरिक आज्ञा पाकर ही इस दुरूह कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ। हे अशरण शरण! मेरे मस्तक पर अपना वरद हस्त रख दीजिये। मेरे मन में बैठकर प्रेरणा कीजिये। मेरा हाथ पकड़कर लिखाइये और अपना गूढ़ तत्व सर्वसाधारण लोगों के सम्मुख भाषा गद्य में प्रकट कराइये। इसमें मेरी चातुरी नहीं। आपका ही कार्य्य है। आप ही ज्ञान के स्रोत हैं। आप ही की इस पद पर प्रतिष्ठा है। मैं तो आपका आज्ञाकारी क्रीत दास हूँ। आपके भावों का प्रकाशक हूँ, आपका निर्जीव यन्त्र हूँ, आपकी बाँसुरी हूँ, जैसी फूँक भर देंगे वैसा ही स्वर निकल आवेगा। हे विश्व को अपने सुमधुर सङ्गीत से मोहित करनेवाले देव! मेरा पुन प्रणाम स्वीकार कीजिये।

हे व्यासनन्दन! आपकी कृपा के बिना कोई भागवत-तत्व नहीं समझ सकता है। हे गुरो आपकी किन शब्दों में स्तुति करूँ। भाव नहीं, भाषा नहीं। आपका अवतार हम जैसे जग

जाल मे जकड़े जीवों की रक्षा के लिये ही हुआ है। आप तो जन्म से ही नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त हैं। आप श्रीजी के कर कमल पर क्रीडा करने वाले, क्रीडा-कीर हैं। आपने उस मधुरातिमधुर रस का स्वय अनुभव किया है और उसी को व्यासमुख से सुनकर सम्पूर्ण ससार मे फैलाया है। इस दिव्यातिदिव्य मधुर रस के सच्चे अधिकारी तो आप ही हैं, क्योंकि जिस हृदय मे काम वासनाएँ हैं, उस में श्याम वासना कहाँ ? आपका तो काम से परिचय भी नहीं। आपकी आत्मा को तो काले भूत ने ग्रहण कर रखा है। आप तो उसी भूतावेश में इतस्तत भ्रमण करते हुए आधिव्याधियों की अग्नि मे जलते हुए प्राणियों को परम शीतलता प्रदान करते फिरते हैं। आप कहीं अधिक ठहरते भी नहीं। आपको अवकाश भी नहीं, क्योंकि इस अनादि जगत् में अनन्त अधिकारी हैं, उन सब की आपको खोज खबर रखनी है। सब का उद्धार करना है। किन्तु कृष्ण-कथा में तो आप सब कुछ भूल जाते हैं। परिव्राजक व्रत का परित्याग करके, एक स्थान पर कुछ काल को बस भी जाते हैं। हे मेरे गुरुदेव ! आचार्य्यप्रवर ! आओ, कुछ काल मेरे कलुषित वाले हृदय म, काली लोह की लेखनी में भी वास करो। ऐसे अपवित्र स्थान मे वास करने के लिये मैं इसीलिये प्रार्थना कर रहा हूँ, कि इसके द्वारा कृष्णकथा का यत्किंचित् असम्बद्ध गान होगा। कैसी भी हो, कृष्णकथा तो कृष्ण कथा ही है। किसी के द्वारा गायी जाय, उसके स्वरूप मे विकृति नहीं होती। काक की विष्ठा मे रहने पर भी अश्वत्थ का बीज अश्वत्थ को ही उत्पन्न करता है और वह वासुदेव स्वरूप सवरा पूजनीय होता है, अब आओ, मुझे सिखाओ, बताओ और लिखाओ। तुम्हारी वाणी से ही बोलूँगा, तुम्हारी शक्ति से ही

लिखूँगा और जय-जय बोलकर, तुम्हारे पादपद्मोंमे प्रणत होकर इस 'भागवती कथा' का आरम्भ करूँगा।

छप्पय

व्यास-तनय वासिष्ठ विज्ञ वैराग्यवान् श्रति।
कृष्ण नाम मधु-मधुर मधुर मदमत्त महामति ॥
भक्ति भागवत भनी पार भवसिन्धु कियो है।
कलि कल्मष करि दूरि दिव्य आलोक दियो है ॥
परमहंस शुकदेव वर, सुन्दर सुखकर नाम है।
तिनके पदपाथोजमें, श्रद्धा सहित प्रनाम है ॥

नैमिषारण्य

(३)

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः ।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥ १ ॥
(श्री भा० १ स्क० १ अ० ४ श्लो)

छप्पय

नैमिषार सुरसार हार भू को है भारी ।
सहस अठासी शौनकादि ऋषि जहँ व्रतधारी ॥
सहस सालको सत्र रच्यो मुनि सूतहु आये ।
सब इतिहास पुरान अठारह गाइ सुनाये ॥
किन्तु भागवत मधुर अति, सब शास्त्रनिको सार है ।
पढत सुनत गावत गुनत, होत जगद्-उद्धार है ॥

भृगुवंश में एक परम तेजस्वी गृत्समद नामक ऋषि हुए—उनके पुत्र शुनक हुए। महर्षि शुनक के पुत्र ही महा तेजस्वी, नियम व्रत परायण, ऋषियों के अग्रणी, ऋषि श्रेष्ठ शौनक मुनि हुए। ये जन्म से ही त्यागी विरागी, तथा संसारी भोगों

१—एक समय वैष्णव क्षेत्र नैमिषारण्य में शौनकादि मुनियों ने स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के लिये हजार वर्ष में समाप्त होनेवाले यज्ञको आरम्भ किया।

से ही उदासीन थे। जब ये कुछ बड़े हुए, तो पिता ने इनके विधिवत् उपनयन और वेदारम्भादि संस्कार कराये। वेदाध्ययन के अनन्तर जब समावर्तन संस्कार का समय आया, तो इन्होंने समावर्तन कराना अस्वीकार कर दिया। संसार में तपस्या ही सार है, ये संसारी सुख भोग तो क्षणिक सुख देनेवाले नश्वर और बन्धन के हेतु हैं, ऐसा निश्चय करके तथा अपने पिता की आज्ञा लेकर ये तपस्या के लिये निकल पड़े।

इनके निश्चय को सुनकर और भी बहुत से ऋषिकुमार इनके साथ हो लिये कहीं परम पावन पुण्य-भूमि में कुटी बनाकर सभी सुख से यज्ञ यागादि करते हुए कृष्ण-कथा श्रवण करेंगे। इस बात से सभी का हृदय प्रफुल्लित था, सभी ने संसारी सुखों की ओर से मुख मोड़ लिया था। तप को ही परमधन समझनेवाले वे ऊर्ध्वरेता ऋषिकुमार किसी पुण्य-भूमि की खोज में पृथ्वी के तीर्थों में भ्रमण करने लगे।

बड़े-बड़े प्राचीन वृद्ध ऋषि मुनियों से उन्होंने तीर्थराज प्रयाग की प्रशंसा सुनी। इस महान् तीर्थ की प्रशंसा सुनकर वे तीर्थराज को मन ही मन प्रणाम करते हुए, वहाँ के लिये चले। प्रयाग में पहुँचकर श्रीगङ्गा-यमुना के सितासित जल के सुन्दर संगम के दर्शनों से उन सब के मन अत्यन्त ही प्रफुल्लित हुए। गङ्गा-यमुना के मध्य की रजतचूर्ण के समान चमकीली बालुका को देखकर उनका हृदय उछलने लगा। ऐसे मनोरम स्थान के दर्शनों से ही उन सबके शरीर रोमांचित हो उठे। प्रेम के अश्रु बहाते हुए उन्होंने तीर्थराज प्रयाग की, त्रिवेणी मैया की स्तुति की। स्नान, सन्ध्या-वन्दन, देवर्षि-पितृ तर्पण तथा समस्त आह्निक कृत्य करके उन्होंने प्रयागराज के

मुख्य मुख्य तीर्थों के दर्शन किये। भगवान् भरद्वाज जी के आश्रम में गये। महर्षि की वन्दना करके उन सब ने उनकी पूजा की। ऋषि ने भी इन सब ऋषिकुमारों का यथोचित आदर-सत्कार किया, रहने को पर्ण-कुटियाँ बतायीं और भोजन के लिये विविध प्रकार के स्वादिष्ट मीठे मूल-फल दिये।

जब वे सब सुख से अपनी थकान मिटाकर, कन्द मूल फल खाकर स्वस्थ हुए, तब ऋषि ने पूछा—"कुमारो! तुम्हारा कल्याण हो, आज तुम सब मेरे आश्रम में आये, यह बड़े ही हर्ष की बात है। तुम्हारे पिता आदि जब-जब प्रयाग आते हैं, तब यहीं ठहरते हैं। वे सब मुझसे बड़ा स्नेह रखते हैं। तुम सब मेरे पुत्र के समान हो। आज मैं तुम्हें देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। तुम सब यहाँ तीर्थ-यात्रा के ही उद्देश्य से आये हो या तुम्हारे मन में और भी कुछ वाञ्छा है। मुझसे सकोच मत करो। जो बात यथार्थ हो वह मुझसे कहो।"

महर्षि के ऐसे स्नेह से सने हुए, अत्यन्त मधुर, अपनेपन से भरे हुए वचनों को सुनकर ऋषिकुमारों का हृदय पितृ-स्नेह से भर गया। उन्होंने प्रेमाश्रु बहाते हुए ऋषि के चरणों को भिगो दिया। कसकर ऋषि के चरणों को पकड़कर उन्होंने उनको गाढे रङ्ग के रक्त-कमल के समान बना दिया। क्रम से ऋषि ने सभी को फिर आलिङ्गन किया। तब उनमें से शौनकजी बोले—"आज हम सब कृतार्थ हुए। भगवान् के वात्सल्य स्नेह को प्राप्त करके हम आज सब परम अनुगृहीत हुए। मेरे पिता भी प्रयाग का प्रसंग चलता—भगवान् की चर्चा बड़े ही गद्गद कंठ से करते थे। वे भगवान् के गुणों का गान करते-करते अघाते नहीं थे। तभी से मेरे मन में बड़ी लालसा थी कि भगवान्

के समीप रहकर, उनके चरणों की आराधना करूँगा। कभी कभी हम सोचते थे—'भगवान् तो महान् हैं, वे दूसरे प्रजापति ही हैं। उनके आश्रम में हजारों लाखों ऋषि, महर्षि, यक्ष, किन्नर, देवता निवास करते हैं। हम बालकों से पता नहीं वे मिलेंगे भी या नहीं, किन्तु हमारी यह शंका यहाँ आकर निर्मूल हो गयी।

भगवान् ने आते ही हमें वात्सल्य-स्नेह से स्नान करा दिया। प्रेम के सागर में निमग्न कर दिया। आज हमने यथार्थ पितृ-स्नेह प्राप्त किया। हम सब भगवान् के चरणों में एक प्रार्थना करने के लिये ही उपस्थित हुए हैं।"

भगवान् भरद्वाज ने शौनकजी को और समीप बिठा लिया। अपने हाथ से शनैः शनैः उनकी जटाओं को सुलझाते हुए बोले—"हाँ, तुम अपना अभिप्राय मुझसे बिना संकोच के कहो। तुम तो अपने बच्चे ही हो।"

शौनकजी ने कुछ रुक-रुक कर धीरे धीरे कहना प्रारम्भ किया—"भगवान् सर्वज्ञ हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के ज्ञाता हैं, सब के मन की बात जाननेवाले हैं। फिर भगवान् के सम्मुख कुछ कहना धृष्टता-मात्र है, किन्तु भगवान् की आज्ञा ही है, तो हम कहते हैं, हमें संसारी व्यवहार में फँसने की रुचि नहीं। हम अपने सम्पूर्ण जीवन को तप करते हुए श्रीकृष्ण-कथा में ही व्यतीत करना चाहते हैं। इसके लिये कोई पुण्यस्थली हमें बतावें। भगवान् जहाँ आज्ञा करेंगे, वहीं हम सदा यज्ञ-याग करते हुए भगवत्-कथा-कीर्तन के द्वारा आयु के शेष समय को बिता दें। इन सब ऋषियों का भी यही विचार है।" भगवान् भरद्वाज ने अत्यन्त ही प्रसन्नता के साथ उनसे कहना आरम्भ किया—"भैया; तुम लोग धन्य हो।

इस चढ़ती अवस्था मे तुम्हारी ऐसी विमल बुद्धि हुई है। तपस्या मे, भगवत्-कथा-कोर्तन में रुचि करोड़ों जन्मों के पुण्यों

से होती है। साधारण जीव तो इसी संसार में मरते और जन्म लेते रहते हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतगों की तरह आहार,

निद्रा, भय तथा मैथुनादि में ही उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बनी रहती है। जो अनुग्रहसृष्टि के जीव होते हैं, जिन्होंने करोड़ों जन्म यज्ञ, याग, तीर्थ, व्रत, जप, तप, ध्यान, समाधि आदि शुभ साधन किये हैं, उनका ही मन नियमपूर्वक कथा-कीर्तन में लगता है। प्रयाग से बढ़कर संसार मे पुण्य प्रदेश दूसरा कौन होगा। इस आश्रम को तुम अपना ही समझो, समझो क्या, तुम्हारा है ही। यहीं आनन्द से रहो। यज्ञ, जप, तप, जो भी करना चाहो करो। यहाँ यथेष्ट फलवाले वृक्ष हैं। अमृतोपम श्रीत्रिपथगामिनी सुरसरि का सुमधुर विपुल सलिल है। सिद्ध, चारण, गन्धर्व, राजर्षि, देवर्षि, महर्षि, आदि का निवास स्थान है। इससे पवित्र भूमि तुम्हें और कहाँ मिलेगी ? यहीं आनन्द-पूर्वक निवास करो। फिर सबको लक्ष्य करके उन्होंने कहा—' क्यों भाई, ठीक है न ?"

सबने हाथ जोड़े हुए कहा—"भगवान् के वचन यथार्थ हैं। प्रयाग से बढ़कर न कोई तीर्थ है, न गगाजी से बढ़कर कोई नदी है, गगा-यमुना के मध्य की भूमि से बढ़कर न कोई भूमि है और भगवान् भरद्वाज के आश्रम से बढ़कर न कोई और पवित्रतम आश्रम ही है। हम भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य्य करके यहीं निवास करेंगे।"

समस्त ऋषिकुमारों की बात सुनकर शौनक जी बड़ी ही नम्रता के साथ हाथ जोड़े हुए, मुनि से कहने लगे—"भगवान् की आज्ञा ही हमारे लिये यथेष्ट थी। तिस पर भी इन सब ऋषि कुमारों की भी इच्छा है फिर इससे बढ़कर और चाहिये ही क्या ? हम सब यहीं रहकर भगवान् के चरणों की उपासना करेंगे और भगवान् की छत्र-छाया में रह कर सुखपूर्वक

भगवान् की आज्ञा तथा उपदेशों के अनुसार अपने जीवन को वितावेंगे।"

इसके अनंतर सभी भगवान् भरद्वाज के चरणों की वन्दना करके ऋषि के बताये हुए स्थान में अपनी-अपनी अलग-अलग पर्णकुटी बनाकर निवास करने लगे। कई महीनों तक वे श्रीभरद्वाज-आश्रम मे रहकर ही घोर तप करते रहे। थोड़े दिन के अनंतर ही माघ का महीना आया। सूर्यदेव मकर राशि पर स्थित हुए। माघ-मकर में तीर्थराज प्रयाग में स्नान का अनत फल है। जिस समय की यह बात है उस समय धर्म का इतना ह्रास नहीं हुआ था। कलियुग आ तो गया था; किन्तु उसके पैर जमे नहीं थे। लोगों में धर्म की भावना भली-भाँति विद्यमान थी। सहस्रों राजे महराजे अपने सेवक-सेनाओं के सहित सैकड़ों कोस से आकर गंगा-यमुना की भूमि में मकर भर कल्पवास करते थे। तब तक ऋषियों ने इस भूमिका परित्याग नहीं किया था। वे, स्थूल शरीर से अवनि पर विद्यमान थे। माघ-मकर में वे सब एकत्र होते। हजारों लाखों गाड़ियों में ऋषि-मुनियों के यज्ञ की अग्नियाँ और सामग्रियाँ आतीं। प्रयाग के बीसों कोस को तीनों किनारों की भूमि भर जाती। भगवान् भरद्वाज के आश्रम में तिल रखने को भी जगह न रहती। कमल के कोप में जैसे एक के पश्चात् दूसरी छोटी बड़ी कलियाँ सटी रहती हैं, ऐसे ही महर्षि का आश्रम ऋषि, मुनि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किंपुरुष तथा मनुष्यों से भर जाता। उसमें सदा वेदध्वनि होती रहती, सैकड़ों हजारों नर-नारी राजा, राजपुत्र, महर्षि के दर्शनों के लिये आते-जाते रहते। महर्षि अपनी योग-शक्ति से सभी का श्रद्धा-सहित यथोचित-सत्कार करते, सभी की कुशल पूछते। इतने पर भी आश्रम में सर्वदा

शान्ति विराजती रहती, किन्तु शौनकजी बाहिरी भीड़-भाड़ से घबड़ाते थे। वे इतने जन-समूह को देखकर व्यथित होते थे। उनका मन शान्त एकान्त चाहता था। अकेले होते तो कहीं भी एकान्त स्थान मे पड़ रहते, किन्तु उनके साथ सैकड़ों और भी ऋषि-मुनि थे। वे सोचने लगे—'तीर्थराज तो महान् क्षेत्र है। इसमे चारों दिशाओं से सदा मनुष्य आते जाते ही रहेगे। हमें तो कोई ऐसा स्थान चाहिये जो पवित्र तो अत्यत हो, किन्तु इतना विशाल और महान् न हो। उसकी प्रसिद्धि भी इतनी न हो, यहाँ बैठकर ही हम अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकते हैं। यह सोचकर वे ऋषि के समीप अपने साथियों सहित गये। उनकी चरण-वदना करके वे एक ओर चुपचाप बैठ गये। महर्षि के समीप बहुत से नवागत ऋषि, मुनि, तपस्वी, राजा, राज-कुमार बैठे थे। उन सब से घिरे हुए महर्षि ऐसे शोभित हो रहे थे, जैसे देवताओं से घिरे हुए देवगुरु बृहस्पति हों। महर्षि ने सबसे कुशल पूछी, सभी का यथोचित स्वागत-सत्कार करके वे मुनि शौनकजी से बोले—"शौनक, तुम सब ऋषियों के अग्रणी हो। तुम्हारी आकृति से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम कुछ कहना चाहते हो। तुम्हें जो कहना हो कहो। अब यहाँ ऐसा कोई नहीं, जिसके सामने तुम अपनी गुप्त से गुप्त बात भी न कह सको।"

हाथ जोड़े हुए शौनकजी ने कहा—"नहीं ऐसी कोई बात नहीं। भगवान् को चरण-वदना के ही निमित्त हम सब चले आये। इस अनत सागर के समान भीड़ को देखकर हम चकित हो रहे हैं और इससे भी अधिक आश्चर्य मे हम भगवान् का गाम्भीर्य तथा साहस डाल रहा है। इतने लोगों के आने-जाने से भी भगवान् के हृदय में कोई क्षोभ नहीं, कोई उद्वेग नहीं।

सुमेरु के समान भगवान् का धैर्य अचल है। उसमें एक भी लहर नहीं उठती।"

शौनकजी की बात सुनकर भगवान् भरद्वाज बड़े जोर से हँस पड़े और हँसते हुए बोले—"मालूम होता है तुम इस भीड-भाड़ से घबडा गये। यह महीने दो महीने ही ऐसी भीड रहती है। फिर वो लोग मकर बीताने पर अपने-अपने स्थानों को चले जाते हैं। क्यों? तुम्हें यह भीड-भाड अच्छी नहीं लगती क्या?"

शौनकजी ने सकोच के स्वर में कहा—'अच्छी क्यों नहीं लगती? धर्मात्मा लोगों के दर्शन होना ही बड़े भाग्य की बात है, किन्तु इस भीड-भाड में हम जैसा चाहते हैं वैसा साधन होने नहीं पाता। यह स्थान तो या तो आप जैसे सिद्ध के उपयुक्त है या जो अकेले या १०।५ हों, उनके लिये अथवा जो कुछ ही समय वास करना चाहें उनको ठीक है। मैं तो एक ऐसा स्थान चाहता हूँ जो बहुत प्रसिद्ध तो हो नहीं, परन्तु परम पावन हो, एकान्त हो, साधन में सहायक हो, आवश्यक सामग्रियों से भरा पूरा हो। आगे फिर जैसी भगवान् की आज्ञा हो।"

भगवान् भरद्वाज ने थोडी देर ध्यान करने के अनन्तर कहा—'शौनक! तुम्हारा सकल्प सुन्दर है। तुम दीर्घ सत्र के लिये शान्त, एकान्त, रमणीय निरापद कद मूल फलों से परिपूर्ण, निरुपाधिक, परम-पवित्र यज्ञीय स्थान चाहते हो। मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। तुम एक काम करो। यहाँ भगवान् माधव १० रूप बनाकर वास करते हैं। तुम त्रिवेणी तटपर जाकर उनका ध्यान करो। वे ही तुम्हें स्वयं प्रकट होकर हित का उपदेश करेंगे तथा उपयुक्त पावन स्थान भी बता देंगे।"

'जो आज्ञा !' कह कर समस्त ऋषियों के सहित शौनकजी ने महर्षि की चरण-वन्दना की और उनकी आज्ञा लेकर अपने साथियों सहित संगम के समीप जाकर, सावधानी और संयम के साथ भगवान् माधव की आराधना करने लगे। थोड़े ही काल में भक्त-भय-हारी, वाञ्छा-कल्पतरु घट-घट-व्यापी, भगवान् माधव शंख चक्र, गदा, पद्म आदि आयुधों सहित शौनकादि

ऋषियों के सम्मुख प्रकट हुए। नव जलधर के समान, अलसी के पुष्प के समान, नील कमल के समान आभावाले उन चतु-र्भुज माधव के दर्शन करके सभी के मुख-कमल खिल गये। वे प्यासे पुरुष के समान भगवान् की अनिर्वचनीय रूप माधुरी का एकटक भाव से पान करने लगे। उनके नेत्र भगवान् की मनमोहिनी, त्रैलोक्य-सुन्दरी, चित्त को हरनेवाली माधुरी मूर्ति

के दर्शनों से तृप्त ही नहीं होते थे। उन्होंने विधिवत् भगवान् की पूजा की और दिव्य स्तोत्रों से स्तुति की। उनकी पूजा और प्रार्थना से प्रसन्न होकर प्रणतपाल प्रभु बोले—"ऋषियो! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम जो भी चाहो अपना अभीष्ट वर मुझसे माँग लो।"

हाथ जोड़े हुए महर्षि शौनकजी ने सब की ओर से निवेदन किया—"हे माधव! जब साक्षात् आप ही हमारे नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो गये, तब हमें फिर अन्य वांछा ही क्या रही? समस्त साधन आपके दर्शन होने के लिये ही किये जाते हैं। आपके देव दुर्लभ दर्शनों से दैहिक दैविक आदि समस्त दुःख दूर हो जाते हैं। जीव सहज में ही आपके दर्शनों से आवागमन के चक्र से छूटकर मुक्त हो जाता है। फिर भी हम जीवनयापन के लिये, शेष आयु को आपकी ही आराधना मे बिता सकें, ऐसा कोई परमपावन शान्त एकान्त मनोरम स्थान सत्र के लिये हमे बतावें, जहाँ बैठकर ये सभी ऊर्ध्वरेता ऋषि शान्ति के साथ तपस्या-आराधना कर सकें।"

शौनक मुनि के ऐसे विनय-युक्त वचन सुनकर वरदानियों मे श्रेष्ठ श्रीहरि बोले—"ऋषियों! मेरा यह अत्यन्त जाज्वल्यमान कोटि-सूर्य-सम-प्रकाशवाला चक्र आपके आगे-आगे चलेगा। जिस स्थान मे जाकर इसकी 'नेमि' गिर जाय, उसी स्थान को आप परम पवित्र समझकर, सहस्र वर्षोंवाला सत्र आरम्भ कर दे।" इतना कहते-कहते भगवान् तुरन्त ही वहीं के वहीं अन्तर्धान हो गये।

क्षण भर मे यह बात समस्त प्रयाग क्षेत्र मे फैल गयी। ऋषियों के झुंड के झुंड महर्षि शौनक के समीप आ-आकर

आग्रह करने लगे—"हम भी आपके साथ चलेंगे। हम भी आपके सत्र में दीक्षा लेंगे।" इस प्रकार हजारों ऋषियों ने आकर शौनकजी को घेर लिया। महर्षि शौनक ने सभी से बड़ी विनीत वाणी में कहा—"ऋषियो! जिन्हें संसारी भोगों की इच्छा न हो, जो जीवन पर्यन्त-ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी रहकर विधिवत् ब्रह्मचर्य और नियमों का पालन करें, वे ही हमारे साथ चले। गृहस्थी ऋषि-मुनि वहाँ कृपाकर जाने का विचार न करें।"

महर्षि शौनक के ये वचन सुनकर सभी ने कहा—"हम जीवन-भर नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहेंगे। और भी जो आप आज्ञा देंगे उसका पालन करेंगे। आप हमारा त्याग न करें। हमें अवश्य-अवश्य साथ ले लें।"

जो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-पालन की प्रतिज्ञा करता, उसे ही ऋषि रखते। इस प्रकार होते-होते वे सब ८८ हजार हो गये। भगवान का धर्मचक्र चला और उसके पीछे-पीछे वे ८८ हजार ऊर्ध्वरेता ऋषि चले। गंगाजी को पार करके वह चक्र लक्ष्मणपुर सीतापुर होता हुआ पुण्यतोया भगवती गोमती के तट पर एक घोर आरण्य में जाकर रुक गया। धर्मचक्र की नेमि जहाँ विशीर्ण हुई, उस अरण्य का नाम ऋषियों ने 'नैमिषारण्य' रख दिया। भगवान् की ऐसी ही आज्ञा थी। उसी स्थान को यज्ञ के लिये परम पावन स्थली समझकर मुनियों ने वहाँ दीर्घ सत्र करने का निश्चय किया। ऊँची नीची पृथ्वी को समान किया गया। ऋषियों ने पुण्यतोया गोमती के तट पर एक ऊँची समतल भूमि में शास्त्रीय विधि से वेदी बनायी। समीप के ही विशालवट के नीचे कथावार्ता के लिये चतुष्कोण सुन्दर चबूतरा बना। वेदी के तीनों ओर ऋषियों ने अपनी-अपनी सुन्दर पर्णकुटियाँ बनायीं। दक्षिण की ओर नदी बह रही थी। थोड़े ही समय में

वह स्थान ब्राह्मी श्री से शोभित होने लगा। उस स्थान की शोभा निरखकर शौनकादि सभी ऋषि-मुनि परम प्रसन्न हुए। महर्षि शौनक सब के प्रधान कुलपति माने गये। उन्होंने शास्त्रीय विधि से सहस्र वर्ष में समाप्त होनेवाले महायज्ञ की दीक्षा ली। सिद्ध, चारण, गन्धर्व, देवता, यक्ष, राक्षस सभी उस महा यज्ञ को देखने आये। उस स्थल में पहिले १२ वर्ष में समाप्त होनेवाला यज्ञ आरम्भ किया, फिर अन्यान्य यज्ञों का भी निर्णय हुआ। इस प्रकार "नैमिषारण्य" समस्त कथा, वार्ता, इतिहास-पुराणों की संसार मे प्रसार करनेवाली पावन भूमि बन गई। चीर, वल्कल, मृग-चर्म, दंड, कमण्डलु, समिधा, मेखला, कुश, ब्रह्मदण्ड आदि ऋषियों के समान इधर उधर बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। यज्ञीय सामग्रियों से वह स्थान व्याप्त हो गया।"

छप्पय

कहीं परे कुश कहीं कमण्डलु जलके सोहें।
मत्त मृगनिके झुंड। मुनिनके मनकूँ मोहें॥
समिधा, वल्कल, चीर, मूल, फल, फूल सुहावें।
मई भीर सुर, असुर, नाग, किन्नर, नर आवें॥

यज्ञभूमि पावन परम, सब विधि सुखद शरण्य है।
शौनकादि सुरतें बसहिं, नाम नैमिषारण्य है॥

———

श्रीसूत

(४)

स एकदा तु मुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः ।
सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात् ॥[१]
(श्रीभा० १ स्क० १ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

पृथ्वीपति पृथुराज आदि भूके भूपाला ।
विषय भूमि सम करी रचे पुर नगर विशाला ॥
मागध सूत बनाय बहुत विधि विनती कीन्हीं ।
दये देश द्वै मुनिनि वृत्ति याचक करि दीन्हीं ॥

क्षत्रिय पितु माँ ब्राह्मणी, सङ्करतातैं सूत हैं ।
उभश्रवा अति विमल मति, कथा कहनतैं पूत हैं ॥

पहिले जब पृथ्वी पर राजा वेन राज्य करते थे, तब सर्वत्र अधर्म फैल गया था। महाराज वेन के पिता ने मृत्यु की लड़की के साथ विवाह किया था, इसीलिये उससे जो पुत्र

१ एक समय प्रात काल अपने अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों से निवृत्त होकर, मुनियों ने—जिनका विधिवत् सत्कार किया गया है, ऐसे पास में ही विराजमान सूतजी से—बड़े आदर के साथ यह प्रश्न पूछा ।

उत्पन्न हुआ, उसमें अपने नाना के ही सब गुण आये। उसने यज्ञ, योग, धर्म, कर्म, सभी बन्द करा दिये। इस पर ऋषियों ने

क्रोध पूर्वक हुङ्कार करके उसे मार डाला। उसके मृतक अंग को मथन करने से भगवान् के अंशावतार महाराज पृथु उत्पन्न हुए। उन महाराज पृथु ने बहुत से यज्ञ किये। प्रथम उनके यहाँ एक

यज्ञ हुआ जिसके प्रधान देवता इन्द्र थे। इसलिये उस यज्ञ का नाम ऐन्द्र यज्ञ हुआ। बृहस्पति भी सूर्यादि ग्रहों के सहित वहाँ स्थित थे। नियमानुसार पहिले गुरु को हवि देकर तब शिष्य को देनी चाहिये। उस यज्ञ मे उलटा हो गया, पहिले इन्द्र को देकर तब बृहस्पति को हवि दी गयी। ऐसा सङ्कट होने से ही सूति में सङ्कर वर्ण वाले सूत की उत्पत्ति हुई। ब्राह्मणी के क्षेत्र मे क्षत्रिय वीर्य से उपन्न होनेवाली जाति को सूत कहते हैं। यह सङ्कर जाति है। सङ्कर जाति दो प्रकार की होती है, अनुलोम सङ्कर और प्रतिलोम सङ्कर। उच्चवर्ण के पुरुष के द्वारा हीनवर्ण की स्त्री में जो संतति होती है, उसे अनुलोम सङ्कर कहते हैं। जैसे ब्राह्मण से क्षत्रिय जाति की स्त्री मे, क्षत्रिय से वैश्य स्त्री में वैश्य से शूद्र स्त्री मे, ये सब अनुलोम सङ्कर जाति हैं। कहीं-कहीं तो स्मृतिकारों ने इन जातियों को माता की जाति में गिना है और कहीं-कहीं मातृ जाति से श्रेष्ठ और पिता की जाति से कुछ नीचा माना है। जैसे ब्राह्मण के द्वारा क्षत्रिय पत्नी मे जो सन्तान हो उसे 'मूर्धाभिसिक्त' कहा है। सङ्कर जाति की वृत्ति उनके मातृकुल से ही स्मृतिकारों ने निश्चित की है। प्रतिलोम सङ्कर जाति को हेय माना गया है। कहीं-कहीं ऐसा भी देखने में आता है, कि इनकी कन्याओं को क्षत्रिय ग्रहण कर लेते थे। इनके संस्कार द्विजातियों की भाँति होते हैं। इन्हें यज्ञोपवीत, सन्ध्या-वन्दन आदि का भी अधिकार है। महाराज पृथु के यज्ञ मे सूत-मागध इन दोनों ने राजाधिराज वैन्य की स्तुति की। इनकी स्तुति से प्रसन्न होकर महाराज ने सूत को तो सूत देश और मागध को मागध देश (गोरखपुर के आस-पास का प्रदेश) पारितोषिक में दिये। वहीं पर ऋषियों ने सूत जाति की यह वृत्ति निश्चित कर दी कि ये देवता, ऋषियों और राजाओं के

वर्णों की पौराणिक कथाएँ कहा करेंगे। इतिहास-पुराण की कथा कहने का इन्हें अधिकार है, वेदों को छोड़ कर। वेदों का अधिकार इन्हे नहीं दिया गया। इस प्रकार सूत-जाति का सनातन धर्म इतिहास-पुराणों की कथा कहना ही है।

भगवान् व्यास ने जब एक वेद को अत्यन्त सक्षिप्त बनाकर उसकी भी चार छोटी-छोटी संहिताएँ बना दीं, तब उन्होंने पुराणों का भी विभाग किया। पुराण करोड़ों की सख्या में थे। उनमें से भगवान् व्यास ने चार लक्ष श्लोक निकालकर उन्हें १८ भागों में विभक्त कर दिया। वेद की ऋग्, यजु, साम और अथर्व इन सहिताओं को क्रमश अपने पैल जैमिनि वैशम्पायन और सुमन्तु इन चारों शिष्यों को पढाया। इतिहास और पुराणों की शिक्षा भगवान् व्यास ने सूत जाति के अपने प्रिय शिष्य लोमहर्षण जी को दी।

लोमहर्षण बड़े धर्मात्मा थे। व्यास जी के परम प्रिय शिष्य थे। जब शौनकादि महर्षियों ने नैमिषारण्य मे अपना यज्ञ आरम्भ किया, तो लोमहर्षण को बुलाकर कथा-वाचक के प्रधान पद पर नियुक्त किया ऋषि सर्व-समर्थ हैं, वे जिसे जो चाहें बना दें। वेद-मन्त्रों से पाषाण की प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा करके उसमें देवत्व स्थापित कर देते हैं। उनके वचन ही शास्त्र होते हैं। उनकी आज्ञा आर्ष-वचन कहकर सर्वत्र मान्य समझी जाती है। ऋषियों ने नैमिषारण्य के यज्ञ में लोमहर्षण सूत को ब्रह्मासन प्रदान किया। समस्त ऋषि मुनि नीचे बैठकर कथा सुनते, वे उच्चासन पर बैठकर सब को भाँति-भाँति की कथाएँ सुनाते।

इसी समय तीर्थयात्रा करते-करते कृष्णाग्रज, हल-मूसल-धारी भगवान् बलदेव जी वहाँ ऋषियों के यज्ञ में आ पहुँचे। सब ऋषियों ने उठकर उन्हें अभ्युत्थान दिया। उनका स्वागत-सत्कार करके कुशल-क्षेम पूछी, किन्तु लोमहर्षण जी अपने उच्चासन पर ही डटे रहे। नियम तो ऐसा ही है, कि व्यासासन पर बैठे हुए पुरुष को किसी को अभ्युत्थान न देना चाहिये, फिर भी इसमें अपवाद होता है। कोई बहुत विशिष्ट व्यक्ति आवें, तो व्यासासन से भी उसका यथोचित सम्मान सत्कार करना चाहिये। बलराम जी तो साक्षात् शेष जी के अवतार ही थे।

चतुर्व्यूह में ये साक्षात् संकर्षण ही हैं। जब इतने बड़े-बड़े ऋषि महर्षियों ने—क्षत्रिय होने पर भी—श्रीबलरामजी का उठकर स्वागत सत्कार किया, उनकी भगवद्-बुद्धि से पूजा की, तो सूतजी को भी उनका सम्मान करना ही चाहिये, किन्तु भावी-

वश उन्होंने कुछ भी नहीं किया। इस पर सहार-शक्तिवाले सकर्पण भगवान् को क्रोध आ गया। यद्यपि तीर्थ-यात्रा के व्रत में व्रती होने के कारण वे न्यस्त-शस्त्र थे। उन्होंने प्रिय शस्त्र हल-मूसल तक का त्याग कर रखा था, फिर भी दिव्य अस्त्र तो उनके सकल्प में स्थित ही थे। हाथ में जो कुशों का मूँठा लिये हुए थे, उसी में से एक कुशा निकालकर उसमे ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करके उन्होंने सूतजी पर प्रहार किया। सूतजी तत्क्षण निष्प्राण होकर आसन से नीचे गिर पड़े।

ऋषि-मडली में हाहाकार मच गया। 'महाभाग! आप यह क्या किया? आपने इन्हे मार क्यों डाला! हमने इन्हें जान बूझ कर ब्रह्मासन दिया और इन्हे सहस्र वर्ष की आयु भी प्रदान कर दी थी। जब तक हमारा यज्ञ समाप्त नहीं होता, तब तक इनकी किसी भी तरह मृत्यु नहीं थी। आपने ब्रह्मास्त्र छोड़कर यह अनुचित कार्य किया। आपको ब्रह्महत्या के समान पाप लगा। यद्यपि आप पाप पुण्य से परे हैं, फिर भी आपने मनुष्य-देह धारण की है। इसका आपको प्रायश्चित्त करना चाहिये।"

रिपियों के वचन सुनकर वलदेव जी ने कहा—"ऋषियों, मैंने भूल में ऐसा कर डाला। अब आप जो कहें वह मैं करने को तैयार हूँ।"

ऋपियों ने कहा—"देव! हमारा आशीर्वाद निष्फल न हो।"

वलदेव जी ने कहा—"तो क्या मैं इसे अपने योग-बल से जिला दूँ?"

ऋषियों ने कहा—"तब आपका ब्रह्मास्त्र निष्फल हो जायगा। हमें कभी व्यर्थ न होनेवाले ब्रह्माजी के अमोघ अस्त्र का अपमान करना अभीष्ट नहीं।"

"तब फिर आप जैसी आज्ञा करें?" बलदेव जी बोले।

"आप जो उचित समझें वही करें। हमारा वरदान भी सत्य हो; आपका अस्त्र भी निष्फल न हो।" ऋषियों ने सर्व सम्मति से उत्तर दिया।

तब बलदेव जी ने कहा—"अच्छा, आत्मा से उत्पन्न होने के कारण पुत्र को अपना ही रूप बताया है; अतः इनके समस्त गुण, समस्त ज्ञान, समस्त वरदान इनके पुत्र उग्रश्रवा के शरीर में विद्यमान हो जायँ। वे ही आपके यज्ञ को यथावत् पूर्ण करें। वे ही आपको समस्त इतिहास-पुराणों की कथा सुनावें।"

ऋषियों ने 'साधु! साधु!' कहकर इसे स्वीकार किया। तभी से उग्रश्रवा पुराणों के वक्ता बने। उग्रश्रवा कभी-कभी नैमिपारण्य छोड़कर इधर-उधर भी चले जाते थे। शौनकादि ऋषियों ने अपना यह सत्र महाभारत होने के बहुत पहिले ही आरम्भ कर दिया था, क्योंकि श्रीबलदेव जी महाभारत के ही समय तीर्थ-यात्रा के निमित्त नैमिपारण्य आये थे। उस समय वहाँ सत्र चल रहा था। महाभारत यज्ञ में कौरव-पक्षीय सब मारे गये। महाराज युधिष्ठिर चक्रवर्ती राजा हुए। उन्होंने लगभग तीस वर्ष राज्य किया। जब श्रीभगवान् स्वधाम को पधार गये तब पाण्डव भी अपने पौत्र महाराज परीक्षित् को राज्य देकर हिमालय की ओर महाप्रस्थान के पथपर अग्रसर हुए। इसके अनन्तर लगभग तीस वर्ष महाराज परीक्षित् ने राज्य किया। जब श्रीशुकदेव जी

गङ्गातट—शुकदेव-आश्रम—पर महाराज परीक्षित् को श्रीमद्-भागवत सुना रहे थे, तब ये परम बुद्धिमान् उग्रश्रवा सूतजी भी वहाँ उपस्थित थे। इनका नाम ही उग्रश्रवा ठहरा। इनकी, श्रवण करके धारण करने की शक्ति बहुत ही उग्र थी। श्री शुकदेव जी से जो भी उन्होंने सुना, उसे यथावत् धारण कर लिया। फिर नैमिषारण्य के सत्र में आ गये। इनके पिता लोमहर्षण भी ऋषियों को अनेक पुराणों की, धर्मशास्त्र तथा इतिहासों की कथा सुनाते थे, उनके अनन्तर ये भी सुनाते रहे। मालूम होता है ऋषियों ने श्रीमद्भागवत को अपने सत्र के अन्त में सुना। तभी तो यज्ञ की अपेक्षा भागवत-कथा के प्रति इन सब का अत्यधिक अनुराग बढ़ गया था। ऋषियों ने सूतजी से स्पष्ट कहा—"हे सूतजी! आप बहुत दिन तक जीवें, क्योंकि आप हमें भगवान् अनन्त की अमृतोपम कथा सुना रहे हैं। यह कथा इन मरणशील पुरुषों के लिये अमर बना देनेवाली जीवन-मूरि है। हम जो यह यज्ञ कर रहे हैं इसका फल निश्चय नहीं। तनिक भी विधि की त्रुटि हो जाय तो सब किया कराया निष्फल। साङ्गोपाङ्ग निर्विघ्न समाप्त हो जाय, तब तो इससे स्वर्गादि फल मिल सकता है, नहीं तो इसमें केवल श्रम ही श्रम है। सच तो यह है कि इस यज्ञ के काले धुएँ से हमारा मन भी सदा शङ्कित—धूम्र वर्ण का—हो गया है। बस, इससे यही एक परम लाभ है, कि तुम हमें श्रीगोविन्द भगवान् के पादपद्मों का मधुमय मत्त कर देनेवाला अद्भुत आसव पिला रहे हो। इसे पीकर हम तृप्त हो रहे हैं।"

इस प्रकार ऋषियों का मन सदा श्रीकृष्ण गुणानुवाद में ही फँसा रहता था। सब कथा सुनने के अन्तर

एक दिन ऋषियों के मनोगत भाव को समझकर श्रीशौनकजी ने सूतजी से एक अत्यन्त ही अद्भुत प्रश्न किया, जिसका वर्णन आगे होगा।

सोरठा

कही कथा कमनीय, शौनकादितें सूतजी।
हर्षित होवे हीय, भव-भय-भजन होय सुनि ॥१॥
आये मरुमहँ सूत, अति प्रसन्न सब मुनि भये।
करि पूजा अति पूत, शौनकजी पूछन लगे ॥२॥

सर्वोत्कृष्ट प्रश्न

(५)

तत्र तत्राञ्जसाऽऽयुष्मन् भवता यद् विनिश्चितम् ।
पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि ॥*
(श्रीभा० १ स्क० १ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

पढे शास्त्र इतिहास पुराणादिक सब तुमने ।
कही कथा अति मधुर सुनी श्रद्धातैं सबने ॥
सब शास्त्रनिको सार सूतजी शीघ्र सुनाओ ।
कृष्ण-चरित कहि पुण्य प्रेम पीयूष पिलाओ ॥
शास्त्र-ज्ञान पय दधि करहु, मथि तिहि सार जनाइदें ।
खट्टो मट्ठो पृथक् करि, मक्खन मधुर चखाइदें ॥

मनुष्य जब बहुत सुनते-सुनते थक जाता है, तो उसके मन में सार वस्तु समझने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वह सर्वोत्कृष्ट सारातिसार तत्त्व को समझने के लिये लालायित होता है।

---

*हे आयुष्मन् सूतजी ! आपने सब शास्त्रों में मनुष्यों के कल्याण के लिये, जो सर्वोत्कृष्ट कभी भी व्यर्थ न होनेवाला अमोघ साधन सरलता के साथ सर्वसम्मत समझा हो उसी सर्वश्रेष्ट साधन को हमसे कहिये ।

परस्पर में अनुकूल-प्रतिकूल बातें सुनकर साधारण लोगों के चित्त भ्रम में पड जाता है। वह सोचता है—यह करे या वह ? अंत में वह विवाद की बातों को त्यागकर सर्वसम्मत सिद्धान्त सुनने को व्याकुल हो उठता है।

यही सब सोच समझकर श्रीशौनकजी ने श्रीसूतजी से सर्वोत्कृष्ट सारवस्तु का प्रश्न किया। शौनक जी बोले—"महाभाग सूतजी ! आपके परम बुद्धिमान् पिताजी हम परम विचित्र विचित्र कथाएँ सुनाया करते थे। उनसे हमारा मनोरञ्जन भी होता था और ज्ञान की वृद्धि भी होती थी। लोमहर्षण जी के ज्ञान की थाह नहीं थी, क्योंकि तुम्हारे पिता ने भगवान् के अवतार श्रीव्यास जी की चिरकाल तक सेवा करके, उनसे ज्ञान प्राप्त किया था। वही समस्त ज्ञान बिना कठिन सेवा किये ही, भगवान् बलदेवजी की कृपा से और इन ऋषियों के अनुग्रह से, अनायास ही तुम्हें प्राप्त हो गया है। तुमने सब शास्त्रों को पढा और सुना है। आज हम तुमसे एक परम उत्कृष्ट सारातिसार प्रश्न करते हैं। उसे तुम समाहित चित्त से सुनो और सुन कर उसका यथातथ्य उत्तर दो।

देखो, शास्त्र अनन्त हैं, उनका कोई वारापार नहीं। ज्ञान-भंडार अथाह है, कोई भी प्राणी उसका पार नहीं पा सकता। ऋषि अनेक हैं, सभी ने अपनी अपनी अनुभूति के अनुसार अनेक सुन्दर साधनों का कथन किया है। कुछ साधन देखने में परस्पर एक दूसरे के विपरीत से भी प्रतीत होते हैं। कभी कभी बहुत सी बातों को सुनकर चित्त विभ्रम में भी पड जाता है। अब तक तो हमने जो पूछा, उसीका तुमने शास्त्रानुसार उत्तर दिया। जैसे पाद्म की कथा पूछने पर तुमने वही सुना दी। अब हम तुम्हारे ऊपर छोडते हैं। समस्त शास्त्रों को पढ

कर तुमने जो सर्वश्रेष्ठ सार समझा हो, आज तुम हमें वही सुना दो। यह ठीक है, कि अनधिकारी के सन्मुख कभी भूल कर भी उपदेश न करना चाहिये और बिना पूछे भी किसी से न कहना चाहिये, किन्तु जो अपना भक्त हो, अपने में स्नेह रखता हो और अपने शासन में हो, उससे उसके हितकी बात बिना पूछे भी कह देनी चाहिये, सो हम तो पूछ रहे हैं। तुम में स्नेह रखते हैं, तुम्हारा सत्कार करते हैं, अत: तुम हम से अपने मनकी बात छिपाओ मत। आज सब खोलकर यथार्थ बात बता दो।

तुम यह भी नहीं कह सकते, कि मैंने तो जैसा कुछ सुना है, पढ़ा है, वह आपके सामने कह दिया। मैं सार वस्तु को क्या जानूँ, सो यह बात भी नहीं हो सकती, क्योंकि तुम्हारे ऊपर भगवान् व्यासदेव की बाल्य-काल से ही कृपा है। अन्य ऋषि भी तुमसे स्नेह रखते हैं। सभी ने तुम्हें अपने आन्तरिक भाव बताये हैं, तुम स्वयं भी बड़े बुद्धिमान् हो। तुमने भी सब पढ़ सुनकर सबका अंतिम निचोड़ निकाला ही होगा। उसी निचोड़ को आज सुना दो।

तुम कह सकते हो—महाराज! आप इतनी शीघ्रता कर क्यों रहे है। सब सुनते चलिये, पीछे अपने आप ही सार तत्त्व समझ में आ जायगा। सो भैया, इतना समय कहाँ है? विशेष कर कलियुगी जीवों के पास। यद्यपि हमारे इस यज्ञ में काल की, कलियुग की, मृत्यु की, किसी की भी बाधा नहीं, किन्तु हमें तो आगे पीछे का सभी विचार करना है। अब आगे कलियुग में बड़े क्रूरकर्मा, मन्दमति पुरुष होंगे। दिन-रात्रि संसारी प्रपचों में ही व्याप्त रहेंगे। उन्हें परमार्थ-चिन्तन को समय ही न रहेगा। सभी जीव अल्पायु होंगे, अधिकांश समय शरीर के भरण-

पोषण में तथा कुटुम्ब की चिन्ता में ही बीत जायगा। वे लोग सब शास्त्रों का श्रवण-मनन करके अपनी बुद्धि से सारासार का निर्णय न कर सकेंगे। फिर "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" प्रत्येक साधन में—प्रत्येक कार्यों में—बड़े-बड़े विघ्न भाँति-भाँति के उपद्रव होंगे। उन कलियुगी जीवों की बुद्धि भी बहुत विशाल न होगी। स्वत. सहसा किसी बात का सर्व-सम्मत निर्णय भी कठिन हो जायगा। इसलिये तुम हमें यह मत बताओ कि यह बात उस शास्त्र में यों लिखी है। जो लिखी है, सब ठीक है, उसे अब तक सुना भी है। अब तो तुम अपने मन से शास्त्ररूपी दधि को मथकर सुन्दर, स्वच्छ, सोंधा, स्वादिष्ट, शुभ्र नवनीत हमारे सामने रख दो, जिसके खाने से जिह्वा भी तुष्ट हो, शरीर भी पुष्ट हो और बुभुक्षा भी शान्त हो। अब दूध, दही, छाछ में हमारी रुचि रही नहीं। यद्यपि हम यह जानते हैं, कि नवनीत दूध से ही निकाला जाता है, किन्तु निकालने की चातुरी से उसमें सबसे अधिक स्वाद होता है। सब निकाल भी नहीं सकते। इसी भाँति हम यह नहीं कहते कि तुम शास्त्र के बाहर की बातें बताओ। नहीं, तुम कहो शास्त्रों की ही बातें, किन्तु अब विस्तार मत करो, सार बात संक्षेप में बता दो। हम इसके लिये बड़े उत्सुक हैं, श्रद्धावान् हैं, इसलिये अब देर मत करो। उसे सुनकर हमारा रोम-रोम प्रसन्न हो जायगा। हमें परम शान्ति प्राप्त होगी।

तुम कहोगे—आपने भी तो सब शास्त्रों का श्रवण किया है, आप सर्व-साधन-सम्पन्न हैं, सदा सर्वदा शास्त्र-चिंतन तथा सत्संग में ही समय बिताते हैं, आपने भी तो कुछ सार समझा होगा। पहिले आप बताइये, आपने क्या सर्वश्रेष्ठ

निश्चय किया ? आपको कौन सी वस्तु अधिक रुचिकर प्रतीत हुई ? किसे सुनकर, आपका हृदय हुलसित हुआ ? प्रेम की हिलोरें किसके श्रवण से अधिक उठने लगीं ? तुम मेरा भी निर्णय सुन लो और यदि हमारा तुम्हारा निर्णय एक-सा ही हो, तो तुम अब इधर-उधर की सभी बातों को छोड़कर उसी का कथन करो।

सूतजी ! मैंने तो यह समझा है कि "श्रीकृष्ण" यही सार है। अब आप कहेंगे श्रीकृष्ण क्या ? कृष्ण माने 'काला'। तो काला रंग सार है या 'कृष्ण, दो वर्ण वाला नाम सार है। सो, सूतजी ! नाम और नामी में परस्पर कोई भेद नहीं हुआ करता। 'उग्रश्रवा' कहते ही हमारे सम्मुख उग्रश्रवा सूत की सौम्य मूर्ति आ जाती है। यह सत्य है, कि श्री भगवान् इन प्रकृति नाम-रूपों से परे हैं। वे मायिक जगत् की सीमा में आबद्ध नहीं; किन्तु जब वे नर-रूप में अवतरित होते हैं, तो उनके अचिन्त्य दिव्य कर्म सर्वदा अलौकिक होते हैं और वे सुनने पर संसार से पार करने में समर्थ होते हैं। हमने ऐसा सुना है, कि स्वयं साक्षात् श्रीहरि ने धराधाम पर देवकी-वासुदेव के यहाँ अवतरित होकर दिव्य मानुषीय क्रीड़ाएँ की हैं। उन्हीं कमनीय क्रीड़ाओं का कथन आप हम श्रद्धालुओं के सम्मुख कीजिये। श्रीकृष्ण की लीलाओं का रहस्य और माहात्म्य तो अनंत है। केवल उनके नाम में ही इतनी शक्ति है, कि अनिच्छा से भी यदि कोई भगवान् के नामों का उच्चारण करता है, तो वह सभी प्रकार के पापों से मुक्त होकर परम पद को प्राप्त हो जाता है। वे श्रीहरि काल के भी काल, मृत्यु के भी मृत्यु और भय को भी भय देनेवाले हैं।

आप कहेंगे कि आप उनके नाम, लीला, गुण, कीर्तन के ही लिये इतना आग्रह क्यों करते हैं ? सो हम करें भी तो क्या, जितने भी बड़े-बड़े बुद्धिमान् विद्वान् ऋषि, महर्षि हुए हैं सभी ने तो उन्हीं के दिव्य कर्मों का कथन किया है। क्योंकि उनकी महिमा ही अनन्त है। उनके सम्पूर्ण श्रीअङ्ग की महिमा को तो जाने दीजिये। एक अङ्ग के संसर्गी की महिमा पर ही विचार कीजिये। शरीर के मल आदि दोषों से, क्षुद्र पातक और उपपातकों से अथवा जो महापातकों से भी युक्त पुरुष होते है, वे अपनी शुद्धि के लिये कहाँ जाते हैं ? श्री गंगाजी के शरण मे ही तो जाते हैं। श्री गंगा जी के जल के स्पर्श-मात्र से महान् से महान् पाप क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। श्री गंगा जी स्वर्ग की निसेनी और पाप काटने की छेनी आदि नामों से संसार मे सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। शास्त्रों में गंगाजी की महिमा सर्वत्र बड़े विस्तार से गायी गयी है। कोई कहीं दूर देश मे भी यदि मेरा हो और उसकी अस्थि किसी तरह आकर गंगाजी में गिर जायँ, तो सब पापों से छूट कर स्वर्ग को चला जाता है। जिन गंगा जी की इतनी महिमा है, वे गंगा जी हैं क्या ? श्री भगवान् के चरणों का धोवन ही तो हैं, सम्पूर्ण चरण भी नहीं। श्री चरण के एक अंगुष्ठ-मात्र के लगने से ब्रह्मांड-कटाह को भेद कर, ये भगवती त्रिपथगा तीनों लोकों में व्याप्त हो गयी। केवल अगुष्ठ-मात्र के संसर्ग से भगवती भागीरथी की इतनी भारी महिमा हो गयी। फिर जो अत्यंत शुद्धि का उत्सुक हो, वह उन प्रभु के त्रैलोक्य-पावन यश को क्यों नहीं सुनेगा ?

निर्गुन का ज्ञान होता है, किन्तु भगवान् के सगुण रूप मे जो भक्ति होती है। उसकी श्रद्धा से सेवा-पूजा करते हैं, प्रेम से

उनके दिव्य गुणों का गान करते हैं, उनके त्रैलोक्य-पावन नामों का उन्मत्त होकर प्रेम-पूर्वक उच्चारण करते हैं। इससे हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, सब संशय दूर हो जाते हैं। सभी प्रकार के पुण्य-पाप कर्म क्षीण हो जाते हैं। इसलिये उन आत्माराम, लोकाभिराम, सर्व-ऐश्वर्य्य-सम्पन्न भगवान् वासुदेव की कथाओं को आप हमें सुनाइये।

आप कह सकते हैं—"सैकड़ों वर्षों से तो आप यही सब सुन रहे हैं। इतने दिनों से सुनते-सुनते भी आपकी तृप्ति नहीं हुई?" सो भैया यह तृप्ति की चीज ही नहीं। यह ऐसा रस है कि जितना ही इसे पीते हैं, उतनी ही इच्छा बढ़ती जाती है। संसारी विषयों को ही ले लीजिये। जिनमें क्षणिक आभास मात्र सुख है, एक बार भोग लेने पर फिर इच्छा बढ़ती है। नित्यप्रति पदार्थों का उपयोग करते हुए भी, दूसरे दिन फिर उसी के उपभोग की इच्छा होती है। सो यह तो परम-मधुरातिमधुर रस है। दूसरे चाहे किसी की तृप्ति भले ही हो जाती हो, सूतजी! हम आप से सत्य कहते हैं, हमारी तृप्ति तो इससे न हुई है, न है और न आगे होगी ही। अब आप और सब इधर-उधर की वार्ता को छोड़कर केवल अवतार-चरितों का ही कथन करें। ये चरित तो पद-पद पर मिठास से भरे हैं। जितना ही इनका रस लेते हैं, उतना ही लोभ बढ़ता जाता है। इसलिये आप हमें कृष्ण-कथा ही सुनाइये। अकेले कृष्ण की ही नहीं, उनके बड़े भाई बलराम की भी कथा सुनावें, क्योंकि वे भी तो उनके ही रूप हैं, वे भी तो अवतार हैं और अकेले उन्होंने क्रीड़ा की भी नहीं। दोनों भाई साल भर के अन्तर से साथ ही उत्पन्न हुए, साथ ही बढ़े, साथ ही

लड़े, साथ ही रहे और साथ ही अपने स्वधाम को पधारे। इसलिये दोनों भाइयों की ललित लीलाओं का आस्वादन कराइये। दोनों के ही गुणों का गान कीजिये। दोनों के ही चरित्रों की चासनी चखाइये।

आप कहेंगे—जब ये इतने सुस्वादु सर्व हितकारी, सुन्दर चरित्र हैं, तब फिर आप यहाँ एकान्त में बैठे अकेले ही क्यों आस्वादन कर रहे हैं। संसार में घूमिये, वक्तृता दीजिये, सभाएँ कीजिये, सबको समझाइये। अकेले अपना उद्धार क्या बात है, सभी का उद्धार कीजिये।

सो, सूतजी! यह आपका कथन ठीक है, किन्तु अब तो घोर कलिकाल आ रहा है। इस कठिन कराल कलिकाल को पार करना बड़ा ही दुष्कर है। इसे साधारण लोग पार नहीं कर सकते। विषयों की ओर जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। धर्म, पालन के लिये सहिष्णुता साहस की आवश्यकता पड़ती है। भाँति-भाँति के क्लेश सहने को जब मनुष्य उद्यत हो, तब धर्म का पालन होता है। अधर्म की प्रवृत्ति देखने में लुभावनी और सरल-सी दीखती है, परलोक में चाहे उसका कितना भी अनिष्टकारी परिणाम हो। अधर्म में प्रवृत्ति होने वाला पुरुष सोच लेता है— परलोक किसने देखा है? यहाँ खूब मौज उड़ाओ, फिर की फिर देखी जायगी।' इस प्रकार विषयों में निमग्न होकर जीव संसार-सागर में गोता खा रहे हैं। किन्तु भगवान् ने इस सागर में डूबते हुए हमको बचा लिया, क्योंकि इससे पार कराने के लिये कर्णधार रूपी आपको भेज दिया। आप हमें भगवच्चरित्र सुना रहे हैं। धर्म का उपदेश दे रहे हैं। धर्म को रक्षा करनेवाले तो वे ही श्रीहरि हैं। जब-

जब धर्म की ग्लानि होती है, तब-तब साधु पुरुषों के परित्राण के लिये और दुष्ट प्रकृति के पुरुषों के विनाश के निमित्त, नाना रूपों मे वे अवतरित होते हैं। भगवान् वासुदेव नन्दनन्दन सकर्षण आदि रूपों से धर्म की सदा सावधानी से रक्षा करते रहे। उनके स्वधाम पधारने पर धर्म की क्या दशा हुई? यह भी आप हमे सुनाइये।

सूतजी! अब हम इस पुण्यस्थल को छोड़कर कहाँ जायँ? किसे उपदेश करें? कोई सुननेवाला हो तब तो करें। जिसने गन्दे खारे जल को खूब गले तक पी लिया है, फिर उसके सम्मुख कितना भी मधुर शीतल गगाजल क्यों न रखो, उसे पीने की रुचि ही न होगी। जिसने खूब भरपेट, भूख से भी अधिक भोजन कर लिया है, उसके सम्मुख भाँति भाँति के व्यजन रखो, वह खा ही नहीं सकता। इसी प्रकार ये ससारी लोग विषयों मे आबद्ध हैं। इन्होंने अपने मन को भाँति-भाँति के विषयों से भर रखा है, इसीलिये इन्हें भगवन्-नाम-गुण-कीर्तन, भगवत्-कथा-श्रवण की जिज्ञासा ही नहीं होती। बिना जिज्ञासा के कहना अपने समय का दुरुपयोग करना है, इसलिये हम कहीं आते जाते नहीं। जिसे जिज्ञासा होगी यहीं आ जायगा। हमारे इस भगवन्नाम-गुण-कीर्तन रूपी सत्र का द्वार सभी के लिये खुला है, जो भी आवे भगवान् की कथा सुने, किसी को मनायी नहीं। देश काल, जाति, वर्ण, किसी का बन्धन नहीं। इसीलिये कलि को आया हुआ समझ कर हम इस वैष्णव क्षेत्र मे दीर्घसत्र की दीक्षा लेकर, भगवान् की कथा के लिये समय निकालकर बैठे हुए हैं। अब आप हमें सर्वोत्कृष्ट सारातिसार तत्व का उपदेश कीजिये।

छप्पय

कलियुग आयो जानि आनि बैठे हम वनमें।
विष्णु बताई बाट चक्र ले आयो छिनमें ॥
जानि वैष्णव क्षेत्र यशनी दीक्षा लीन्हीं।
कृष्णकथा नित सुनें सबनि शुभ सम्मति कीन्हीं ॥

सूत ! जगततें मोरि मुख, कृष्ण चरनमहँ चित दियो।
कृष्ण-कथा कलि-मल-हरनि, कही कृपा करि हित कियो ॥

परम धर्म

(६)

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति ॥१

(श्रीभा० १ स्क० २ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

परम धर्म है जिही भक्ति भगवतमें होवे।
होवे हर्षित हियो मलिनता मनकी खोवे॥
हेतु रहित निष्काम भक्ति अति परम सुहाई।
सब शास्त्रनिका सार यही मेरे मन भाई॥

शौनकजी! सच सच कहूँ, सब सतनि सम्मत निही।
भक्ति मनी भागीरथी, विषयवासना विष कही॥

ससार में बड़े-बड़े विद्वान् वक्ता तो बहुत मिल जायँगे, किन्तु श्रद्धावान् सच्चे श्रोता बहुत दुर्लभ हैं। उपदेष्टा को यदि मेधावी--बात को समझनेवाला बुद्धिमान्--श्रोता मिल जाता है,

१—मनुष्यों का यही सर्वश्रेष्ट धर्म है, जिससे अधोक्षज भगवान् श्रीवासुदेव में अहैतुकी और अव्यभिचारिणी भक्ति हो, जिससे अपनी अन्तरात्मा प्रसन्न हो जाती है।

तो वह अपने हृदय का दरवाजा खोल देता है। उसके सामने कुछ भी नहीं छिपाता। जैसे चन्द्रमा की चाँदनी मे चन्द्रकान्ता मणि स्वय ही द्रवित होने लगती है, वैसे ही श्रद्धावान् श्रोता के सम्मुख वक्ता की वाणी प्रकाशित होने लगती है।

शौनकजी के ऐसे ऐकान्तिक रहस्यमय प्रश्न को सुनकर हर्षके कारण सूतजी के रोएँ खड़े हो गये। उनके दोनों नेत्र प्रेमाश्रुओं से भीग गये। हृदय की कलियाँ खिल उठीं, मुख प्रसन्न हो गया। कठके गद्‌गद हो जाने से बडी देर तक वे कुछ कह ही न सके। जब प्रेम का वेग कुछ कम हुआ, तब वे हाथ जोडकर बड़े स्नेह से कहने लगे—"ऋषियो! आपने आज ऐसा अद्‌भुत अलौकिक प्रश्न किया है, जिसे आपके सिवाय कोई कर ही नहीं सकता। आज आपने मुझे कृतार्थ कर दिया। मैं अपनी मलिन मति से इसका यथार्थ उत्तर दे ही नहीं सकता। मैं जो भी कुछ कहूँगा अपने गुरुदेव भगवान् की कृपा से ही कहूँगा। मेरे पिता ने भगवान् व्यासदेव से समस्त पुराण और इतिहासों का अध्ययन किया था। मैंने उन अपने पिता से ही वे सब शास्त्र सुने, किन्तु सारासार तत्त्व तो मैंने भगवान् व्यासनन्दन शुक से ही सुना, अत वे ही मेरे अज्ञान को नाश करनेवाले गुरुदेव हैं। मैं जो भी कुछ कहूँगा, उन्हीं के कृपा-प्रसाद से कहूँगा। गुरु-कृपा से ही मनुष्य सब कुछ कर सकता है। मूक भी वक्तृता दे सकता है। पगु भी गिरिलघन कर सकता है। मेरे सर्वस्व तो श्रीशुकदेवजी ही हैं। उनके चरणों की वन्दना करने के अनन्तर मैं श्रीनारायण, नर, नरोत्तम, सरस्वती देवी और अपने

गुरुके भी गुरु भगवान् व्यास को वन्दना करके आपके प्रश्न का यथातथ्य उत्तर देता हूँ।

आपको तो शंका हो ही क्या सकती है। आप सर्वशास्त्रों में निष्णात हैं। सारासार के मर्म को भलीभाँति जाननेवाले हैं। आपने यह प्रश्न लोकके कल्याणके निमित्त किया है। मुझे निमित्त बनाकर आप इसे संसार के सम्मुख प्रकट करना चाहते हैं। आप ऋषिमुख से प्रकट न करके सूतमुख से बोलना चाहते हैं। सभी तो आप के मुख हैं। यन्त्र का मुख यन्त्री के अधीन है। आप जैसा भाव चाहेंगे, इस यन्त्र से प्रकट करायेंगे।' अथवा संसार में कहने योग्य श्रीकृष्ण-कथा ही है, उसके अतिरिक्त और कहें भी तो क्या कहें ? इसलिये आप कृष्ण-कथा कहलाना चाहते हैं, कृष्ण-कथा से कभी भी किसी कल्याणेच्छुको तृप्ति न हुई है न होगी। इसमें श्रोता, वक्ता दोनों को ही हर्ष होता है; अतः मेरा मन अत्यंत ही आह्लादित हो रहा है। मैं आपके परम पावन प्रश्न का प्रसन्नता के साथ उत्तर दूँगा। आप सब समाहित होकर श्रवण करें।"

सूतजी कहने लगे—"मुनियो ! मैंने तो इसी को सार सुना और समझा है कि भगवान् के चरणों में अहैतुकी निष्काम भक्ति हो, तो सभी इहलोक परलोक के कार्य बन जायँ। हृदय में यदि भगवान् का वास हो गया, तो फिर उसमें काम क्रोध रूपी असुर रह ही कैसे सकते हैं ? समस्त दुःखों का मूल कारण है 'काम'। पहिले हृदयमें विषयोंके भोगों की कामना उठती है। विषयभोग संसार में इतने अपर्याप्त हैं, कि इनसे सब प्राणियों को तो कौन कहे, यदि सभी विषय की सामग्रियाँ एक ही पुरुष को दे दी जायँ, तो

वे सब मिलकर भी एक व्यक्ति की तृप्ति के लिये पर्याप्त नहीं हैं। फिर असख्य पुरुषों को सभी वासनाएँ नित्य-नित्य पूरी होती रहे, यह असभव बात है। जब हमे मनोभिलषित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, तो हृदय मे क्षोभ उत्पन्न होता है। वह क्षोभ ही चित्त की सभी प्रसन्नता को नष्ट कर देता है। ससारमे इसीसे लोगोंका चित्त सदा क्षुब्ध बना रहता है। सभी किसी न किसी चिन्ता के वशीभूत होकर चिन्तित बने रहते हैं। उनके मन का मोद विनष्ट हो जाता है। यदि हृदय भक्ति भाव से भरा हुआ हो, तो फिर कोई चिन्ता नहीं रहती। इसीलिये भक्त सदा प्रफुल्ल चित्त बने रहते हैं। यदि वे भगवत् प्रेम मे रुदन भी करते हैं, तो उनकी काति फीकी नहीं पडती। यही नहीं, रोते समय उनका मुख, कमल की तरह और अधिक खिला हुआ दर्शनीय दिखायी देता है। इस भगवद् भक्तिरूप अनुष्ठान का आरभ करने से ही बड़े-बड़े दु खों से मनुष्य स्वत ही मुक्त हो जाता है।

अब आप एक प्रश्न यह करेंगे, कि—'ससार मे रहकर हम भक्ति करें भी, तो ज्ञान, वैराग्य की प्राप्ति तो होगी नहीं, उसके लिये षट् सम्पत्ति चाहिये। गृहत्याग आवश्यक है, सो इस मार्ग में यह भी आवश्यक नहीं। जैसे राजा कहीं चलता है, तो उसके सेवक स्वय ही उसके पीछे लग जाते हैं। ऐसे ही निष्काम भक्ति होने पर ज्ञान, वैराग्य अपने आप ही आ जाते हैं। ज्ञान, वैराग्य तो भक्ति के दुधमुहे बच्चे हैं, वे भला अपनी माँ को छोड़कर जा ही कहाँ सकते हैं ?'

"अब रही त्रिवर्ग की बात। शास्त्रों मे बताया है, धर्म करने से अर्थ की प्राप्ति होती है। अर्थ से इन्द्रियों को सुख

देनेवाले कामको प्राप्त करते हैं। काम्य पदार्थों के उपभोग से इन्द्रियजन्य सुख होता है। संसार में जो भी काम इस प्रयोजन से किये जाते हैं, कि उनसे इस लोक में इन्द्रियों को सुख हो और परलोक में भी स्वर्ग की प्राप्ति हो, अर्थात् जिससे इह लोक परलोक दोनों में सुख हो, वही धर्म माना गया है। प्रायः देखा गया है, कि भगवद् भक्तों को शारीरिक सुख प्राप्त नहीं होता, होता भी है तो बहुत कम। वे प्रायः निर्धन अकिञ्चन ही देखे गये हैं, यदि भगवद् भक्ति ही परम धर्म होता, तो धर्म का फल जो अर्थ है, उसकी प्राप्ति उन्हें विपुल मात्रा में होनी चाहिये। धर्म से जितने अर्थ की प्राप्ति होती है परमधर्मके द्वारा उससे कहीं अत्यधिक प्राप्ति हो, तब तो ठीक है, यदि नहीं तो हम कैसे समझें, कि भगवद् भक्ति परम धर्म है, क्योंकि धर्म का फल जो अर्थ है वह दिखायी नहीं देता।

ऐसी शङ्का भी भ्रमात्मक ही है। धर्म का वास्तविक फल अर्थ सिद्धि ही नहीं है। धर्म का मुख्य प्रयोजन तो श्री भगवच् चरणारविन्दों में प्रेम होना ही है। जिस धर्मानुष्ठानसे प्रभु के पाद पद्मोंमें प्रेम नहीं होता, जो धर्म भगवद् भक्तिको उत्पन्न नहीं करता, जिस धर्म से भगवान् वासुदेवकी त्रैलोक्य पावनी मुनि-मनहारिणी कमनीय कथाओं में रति न हो, यह धर्म नहीं, धर्माभास है। यह निरर्थक परिश्रम है, ऊसर को यत्नसे सींचने के समान है। धर्मका तात्पर्य कृष्ण-कथाओं में एक मात्र अनुराग होना ही है। धर्म का अनुष्ठान अर्थ के लिये नहीं किया जाता। उसका उद्देश्य तो एक मात्र मोक्ष की प्राप्ति ही है। धर्म के लिये किया जाता है, न कि काम के

लिये और धर्म का फल केवल काम-भोग इन्द्रिय-सुख ही नहीं है धन का सदुपयोग तो भगवत् पूजन में हो। विपुल धन हो तो महाराजों की विभूतियों से भगवान् वासुदेव का पूजन करे, उनकी पूजा-अर्चा का प्रबन्ध करें। पूजा के लिये फल-पुष्प के उद्यान आराम बनवावें। दिव्य देश—भगवन् मन्दिरोंका निर्माण करावें, भगवद् विग्रहों की प्रतिष्ठा करावे, खूब धूम-धाम से पर्व और उत्सवों को मनावें, भगवद्-भक्ति का प्रसार और प्रचार करावे, यही धन का यथार्थ उपयोग है।

"अधर्म पूर्वक सदा इन्द्रियों की तृप्ति में ही लगे रहने का नाम काम नहीं है। काम भी हो तो धर्म पूर्वक ही हो। केवल ऋतुकाल में, अपनी ही पत्नी के समीप, केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये ही, वंश का मूलोच्छेदन न हो, यह सनातन परम्परा बनी रहे, इसी भावना से, पितरों के ऋण से मुक्त होने के निमित्त ही जाना चाहिये। अन्य इन्द्रियों के विषयों का उपभोग विषय बुद्धि से नहीं भगवत् प्रसादी समझकर ही करना चाहिये। विषय तो वे ही हैं, इन्द्रियों की तृप्ति उनसे वैसी ही होगी, केवल भावना बदलने की ही आवश्यकता है। अपने को विषयों का किंकर न बनाकर केशव का किंकर बनाना चाहिये। उन्हीं केशव को कोई कृष्ण कहते हैं कोई परतत्व बताते हैं कोई अविनाशी, अव्यक्त, अलख, अगोचर कहते हैं। ज्ञानी उन्हीं उन्हीं को ब्रह्म बताते है, योगी परमात्मा के नाम से पुकारते हैं, भक्त उन्हीं को भगवान् मानकर पूजा करते हैं। उन्हीं के लिये सब कार्य करना यही त्रिवर्गों का फल है।"

"केवल यश-प्रतिष्ठा के लिये, लक्ष्मी के लिये वर्णाश्रम धर्म

का पालन किया जाय और उससे श्रीधर भगवान् के पाद-पद्मों की निरंतर स्मृति न बनी रहे, तो वह धर्म वास्तविक धर्म नहीं। हमारी समस्त चेष्टाएँ नंदनंदन के ही निमित्त हों, यही परमधर्म है, यही सारातिसार है। यही सर्वोत्कृष्ट साधन है। यही मोक्ष से भी बढ़कर परम पुरुषार्थ है। भगवान् को प्रसन्न करना, यही वर्णाश्रम धर्म का प्रयोजन है।

आप लोगों ने पूछा था—'मुख्य कर्तव्य क्या है ?' सो मैं तो मनुष्य-योनि पाने का मुख्य कर्तव्य यही समझता हूँ, कि जैसे भी बने तैसे, जिस उपाय से भी हो, उसी उपाय से, सब बातों से, सब ओर से, मन को बलात् हटाकर, एकान्त भाव से, उन भगवान् वासुदेव की ही लीलाओं का और गुणों का निरंतर श्रवन करना चाहिये। उनके ही मधुरातिमधुर नामों का त्रैलोक्य पावन यश का कीर्तन करना चाहिए। एकांत में बैठकर, सब ओर से चित्त हटाकर, उन्हीं का ध्यान करना चाहिये। यथाप्राप्त द्रव्यों से, सभी प्रकार के साधनों से, सभी प्रयत्नों से उन्हीं परमात्मा का पूजन करना चाहिये।

"शौनकजी ! आप ही सोचिये, जिनके ध्यान रूपी खड्ग से सभी प्रकार के क्लेश, सभी प्रकार की चिन्ताएँ, सभी प्रकार के बन्धन क्षण भर में कट जाते हैं, उन भवभयहारी, मदनमुरारी के पादपद्मों में कौन प्रेम न करेगा ? किसकी उनके चरणारविन्दों में रति न होगी ? सो, ऋषियो ! मैंने तो यही सर्वश्रेष्ठ सार समझा है। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ? वह मुझे आप बतावें। अब मेरा मन परम प्रफुल्लित हो उठा है। आप जो भी पूछेंगे, उसी का मैं उत्तर दूँगा।"

छप्पय

कथा श्रवण नित करें श्रवण वे ही हैं सुखकर।
वाणी विमला वही कृष्ण कीर्तनमें तत्पर॥
मन मोहनमें मिले सतत हरि-चरननि सेवे।
कर्म करे जो कछू कृष्ण अर्पण करि देवे॥

ध्यान खड्गतें कर्मकी, काटहिं ग्रंथि सुतीक्ष्ण अति।
तिनको यश पावन परम, को न कथामें करहिं रति॥

भागवत सेवासे

(७)

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥१॥
(श्री भा० १ स्क० २ अ० १८ श्लो०)

छप्पय

भगवत भक्ति सहाय भागवततें कहलावें ।
अज अव्यक्त अनादि सगुण साकार लखावें ॥
लै अनन्त अवतार अमित लीला विस्तारें ।
नाम, रूप, गुण, धाम जगत् जीवनकूँ तारें ॥
जो इनकूँ गावें सुनें, नित सेवन सुरतें करहिं ।
भक्त भागवत हैं वही, करत जगत पावन फिरहिं ॥

सूतजीने जब बार बार 'भागवत' शब्द का प्रयोग किया, तब यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि 'भागवत' शब्द से अभिप्राय क्या है? यही विचार कर ऋषियों की ओर से शौनकजी पूछते हैं—"सूतजी! आपने कई बार कहा 'सब

१ जब नित्य प्रति श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्भक्तों की सेवा करने से अशुभ वासनाओं का प्रायः नाश हो जाता है, तब उत्तम श्लोक भगवान् नन्दनन्दन में निश्चय प्रेमरूपी भक्ति उत्पन्न होती है।

पाप ताप भागवत सेवा से नष्ट हो जाते हैं, तो 'भागवत सेवा' से आप का तात्पर्य क्या है ? भागवत किसे कहते हैं और भागवत का सेवन कैसे करना चाहिये ? क्या श्रीमद्भागवत की पुस्तक की सेवा करे या और कोई गूढ़ अभिप्राय है ?"

ऋषियों के प्रश्न को सुनकर सूतजी बोले—"महानुभावो ! आप सब कुछ समझते हुए भी लोकहित के लिये पूछ रहे हो।

'भागवत' से मेरा अभिप्राय है, जिसका सम्बन्ध भगवान् से हो। आप कहेंगे कि ऐसा कौन-सा पदार्थ है, जिसका भगवान् से सम्बन्ध नहीं है ? चराचर विश्व ही उनका रूप है, तृण से लेकर पर्वत पर्यन्त, विन्दु से लेकर सिन्धु पर्यन्त, चींटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त, सभी मे तो वे समान रूप से व्याप्त हैं। उनके बिना किसी की सत्ता ही नहीं, फिर तो 'भागवत' सभी हुए।

यह ठीक है, सभी में भागवत् सत्ता है, इससे सभी भागवत हैं, फिर भी सम्बन्ध सामान्य और विशेष रूप से होता है। सामान्य रूप से तो सभी के साथ सम्बन्ध है किन्तु जिनके साथ विशेष सम्बन्ध है, यहाँ उनसे ही अभिप्राय है। जो भक्त भागवान् की भक्ति करते हैं वे 'भागवत' कहाते हैं और जिन कथाओं में, जिन ग्रन्थों मे, भगवान के भक्तों के तथा भगवान के अवतार, नाम, रूप, लीला धाम आदि का वर्णन है, वे भी 'भागवत' हैं। भगवान् अनेक रूप धारण करके, अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं। उनकी लीलाओं मे जो उपकरण हैं, जो भक्त उनकी विशेष कृपा लाभ करते हैं, जिन परम पावन धामों मे भागवत लीलाएँ होती हैं, अनेक दिव्य गुणों, लीलाओं के कारण भगवान् के जो जगत् पावन नाम प्रकट होते हैं भगवान् अपने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करके जो अनेक रूप

धारण करते हैं, ये सभी 'भागवत' हैं। इनकी कथाएँ जिनमें हों, वे ग्रन्थ भी भागवत हैं, भगवान् के रूप ही हैं। उनकी पूजा भी भगवद् बुद्धि से करनी चाहिये। अब इसमें एक शङ्का उठती है, भगवान् के कृपा-प्रसाद प्राप्त भक्तों की कथाएँ या स्वयं भक्त भागवत हैं यह तो ठीक ही है, किन्तु भक्ति ग्रन्थों मे बहुत से अभक्तों की कथाओं का भी तो वर्णन है। जैसे राजा वेनकी, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु की, रावण, कुम्भकर्ण शिशुपाल, दन्तवक्र कंश आदि आदि की, तो क्या ये सभी भागवत के अन्तर्गत हैं ?

इसे आप यों समझें—आप किसी को दुग्ध, जल या घृत देते हैं तो किसी पात्र मे ही भर कर देंगे। यद्यपि हमारा स्नेह बच्चे मे ही है, किन्तु बच्चे को मिठाई दूध आदि तथा खिलौने बहुत प्रिय हैं। उनके बिना वह रह ही नहीं सकता। हम भी उसे उनके बिना प्रसन्न नहीं रख सकते; अत बच्चे को प्रसन्नता के साधन होने के कारण वे सब सभार हमें प्रिय हैं। जैसे हम किसी से स्नेह करते हैं, किन्तु उस स्नेह को प्रकट करने के लिये परस्पर में प्रिय वस्तुओं को देते लेते हैं, अपनी गुप्त से गुप्त रहस्य भरी बातों को उससे कहते हैं, सुनते हैं, अपने घर बुलाकर उसे खिलाते हैं, उसके यहाँ जाकर खाते हैं। यद्यपि इन वस्तुओं में प्रेम नहीं है, किन्तु ये वस्तुएँ प्रेम को प्रकट करने के साधन होने के कारण स्वयं प्रेममय बन जाती हैं। यद्यपि रावण, कुम्भकरण, कंस आदि के आचरण भ्रष्ट थे किन्तु वे, सब भगवल्लीलाओं को प्रकट करने मे सहायक थे, जैसे परमभक्त अपनी ऐकांतिक भक्ति से भगवान् को प्रकट कर लेता है उसी प्रकार परम दुष्ट भी अपनी महान् दुष्टता से भगवान् को अवतार लेने के लिये

विवश कर देता है। उसे निमित्त बनाकर भगवान् भाँति-भाँति की क्रीड़ाएँ करते हैं। अपने प्रेमी भक्तों को अनेक प्रकार से सुख देते हैं। उनकी दुष्टता ही लीलाओं के आधेय के लिये आधार बनती हैं। ये अपने अत्यत क्रूर कर्मों से, अत्यधिक अत्याचारों से अनादि, अव्यक्त अचिन्त्य प्रभु को सर्व-साधारण के सम्मुख व्यक्तरूप से उपस्थित करा देते हैं। इसलिये उनका चरित्र भागवत्-चरित्र से भिन्न नहीं है। भागवत चरित्र ही है और उसका भी नाम भागवत ही है। भक्त अथवा भगवान् का जिससे भी विशेष सम्बन्ध हो गया, उन सबके चरित्र भागवत-चरित्रों के अन्तर्गत है। बैन यद्यपि दुष्ट था, किन्तु यह भगवान् के अशावतार महाराज पृथु का पिता था। उसने ऋषि-मुनियों के साथ दुष्टता की उनके द्वारा मारा गया। पृथ्वी पति पृथु और धर्मस्वरूप ऋषियों के सम्बन्ध से उसका चरित्र भी भागवत-चरित्र ही है।

अब एक शका आप लोग और उठावेंगे, कि इससे तो यही सिद्ध हुआ, भगवान् की अपेक्षा ये प्रबल, पराक्रमी, असुर स्वभाव के प्राणी ही श्रेष्ठ हुए, जो भगवान् को अवतार लेने को विवश कर देते हैं।

"इसमे कोई सन्देह नहीं। भगवान् से भक्त को श्रेष्ठ ही माना गया है, या दूसरे शब्दों मे यों कह लीजिये कि भक्त का अपना कोई सकल्प होता ही नहीं। चराचर के स्वामी उसके हृदय मे बैठकर जैसी भी प्रेरणा करते हैं, जैसा भी सकल्प कराते हैं, यह वैसा ही करता है। यथार्थ बात यह है, कि भक्त भगवान् से भिन्न होता ही नहीं, ये रावण, कुम्भकर्ण, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, शिशुपाल, दन्तवक्त्र और कोई नहीं थे, भगवान

के नित्यपार्षद, भगवान् के शरीर के एक प्रकार से अङ्ग हैं जय और विजय नाम के वैकुण्ठवासी प्रिय अनुचर थे। अकेले बैठे-बैठे भगवान् ऊब जाते हैं। उन्हें कुछ क्रीड़ा करने की कामना होती है। कुछ लड़ाई-भिड़ाई, हू हल्ला होता रहे तो मन लगा रहे। अब सर्व समर्थ प्रभु से युद्ध में कौन लड़ सकता है? ऋषि, मुनि देवता तो दासभाव के उपासक ठहरे। उनसे घंटा बजवा लो, पूजन करवा लो। भगवान् से लड़ने की बात तो क्या, विरोध की भी बात कहो तो कोसों दूर भागेंगे। इनकी तो सदा भगवान् के सम्मुख अंजलि ही बँधी रहती है। यद्यपि भगवान् हर समय इस विनम्रता से ऊब जाते हैं, किन्तु ये विचारे अपने स्वभाव से विवश हैं। भगवान् का स्मरण होते ही आँखें अपने आप बहने लगती हैं, हृदय स्वयं भर आता है, रोएँ स्वतः खड़े हो जाते हैं, कंठ गद्गद हो जाता है और दोनों हाथ बिना प्रयास के जुड़ जाते हैं। लड़ाई-भिड़ाई खुले हाथों से हो सकती हैं। इसलिये भगवान् अपने अंतरङ्ग सखाओं को अनन्त शक्ति समर्पित करके अपने दिव्य लोक से धराधाम कौतुक के निमित्त भेजते है। जब वे भेजे ही इसी काम के लिये गये हैं, तो उनका दोष क्या? वे भगवान् के इच्छानुसार खूब विरोध करते हैं। जब वे भगवान् के यन्त्र हैं और उन्होंने अपनी शक्ति से ही उन्हें प्रबल बनाया है तब तो वे बड़े हुए ही और उनके चरित्र भागवत-चरित्र हुए ही।

वैसे तो सत्व, रज, तम ये तीनों ही गुण प्रकृति के ही हैं और प्रकृति भगवान् की चेरी है। उनके संकेत पर नृत्य करने वाली है। इन तीनों भावों को ही लेकर श्रीहरि उत्पादक, पालक और संहारक ये तीन रूप धारण करते हैं, जो ब्रह्मा, विष्णु, तथा महेश इन नामों से प्रसिद्ध होते हैं। फिर भी परम आराधनीय

परम मङ्गलमय तो भगवान् की सत्वमूर्ति ही है। सात्वत वैष्णव लोग उसी मूर्ति की आराधना करते हैं, उन्हीं के गुणों का गान करते हैं। शक्ति तो उन्हीं की सब मे है। जैसे अग्नि सब में सर्वत्र व्याप्त है, अग्नि के बिना काष्ठ और धूम आदि सम्भव नहीं। फिर भी लोक मे ऐसी परिपाटी दिखायी देती है, कि काष्ठ की अपेक्षा धुँए और धुँआ की अपेक्षा प्रज्वलित अग्नि श्रेष्ठ समझी जाती है, उसी प्रकार तमोगुण की अपेक्षा रजोगुण और रजोगुण की अपेक्षा सतोगुण श्रेष्ठ माना जाता है। इसलिये सत्वमूर्ति श्रीहरि के गुणगान करने से अन्त करण पवित्र बनता है।

भागवत का मुख्य आधेय है अवतार—तत्व, अवतार कथा मे भक्ति-भक्त भागवत सभी का एक साथ समावेश हो जाता है।

अवतार-कथा में केवल भक्त और भगवान् का ही सम्बन्ध है। भगवान् का अवतार दुष्टों के संहार के ही निमित्त नहीं होता। यह तो एक निमित्त मात्र है। सत्य बात तो यह है, कि भगवान् केवल भक्तों के निमित्त ही अवतार धारण करते हैं। जैसे गौ दूध अपने बच्चे के लिये ही देती है। बच्चे के लिये उतारने के अनन्तर उससे और लोग भी लाभ उठाते हैं। इसी तरह भगवान् का प्राकट्य केवल भक्तों को सुख देने के लिये ही है। भक्तों के भी बहुत भेद हैं। भगवान् को जो भक्त जिस भाव के भजता है, भगवान् भी उसकी उसी भावके इच्छा-पूर्ति करते हैं। भागवान् के अवतार केवल मनुष्य-योनि में ही या पृथ्वी पर ही होते हों, सो बात नहीं, वे देवता,

तिर्यक्, पशु, पक्षी सभी योनियों में अवतार धारण करते हैं। उनके अवतार पृथ्वी पर स्वर्गादि ऊपर के लोकों में तथा पृथ्वी के नीचे के लोकों में भी होते हैं। हंसावतार सत्यलोक में ही हुआ। शूकरावतार महर्लोक में हुआ। इसी प्रकार भगवान् का अनुग्रह जीव मात्र पर है। वे देश-काल के बन्धन से मुक्त हैं। सभी जीव उनके लिये समान हैं। जब जिस जाति में जन्म-ग्रहण करने की आवश्यकता अनुभव करते हैं, तब उसी जाति में प्रकट होकर वहाँ के जीवों को अपनी अद्भुत दिव्य लीलाओं के द्वारा आनन्द प्राप्त कराते हैं।

वे प्रभु भूतभावन हैं, चराचर के स्वामी हैं, सब के ज्ञाता हैं। ब्रह्मा रूप बनाकर वे ही प्रलय में लीन हुई प्रजा का सृजन करते हैं। वे ही विष्णुरूप धारण करके राजाओं में, देवताओं में, ऋषियों में अपनी शक्ति प्रदान करके तथा नाना अवतार धारण करके, इस चराचर जगत् का पालन करते हैं। अन्त में वे ही साक्षात् शिव-रूप से समस्त संसार का संहार भी करते हैं। उनकी शक्ति की कोई सीमा नहीं, उनके पुरुषार्थ की कोई परिधि नहीं, उनके अवतारों की कोई गणना नहीं। वे अनादि-अनन्त प्रभु अनेक रूप से कलावतार अंशावतार, आवेशावतार, युगावतार आदि विविध भेदों से अवतीर्ण होते हैं। उनकी कथाओं के श्रवण को ही 'भागवत सेवा' कहा गया है। उनके अनन्त अवतारों में से कुछ के नाम अत्यन्त संक्षेप में चरित्र के साथ आगे वर्णन करेंगे। इस ग्रन्थ के समस्त चरित वस, भक्त और भगवान् के अवतारों के ही होंगे। गाने योग्य भागवत-चरित्र ही हैं और सब तो व्यर्थ की बातें हैं।"

छप्पय

जिनिके चरित पवित्र हृदयकूँ पावन करिहैं।
सुनिकें श्रद्धा सहित मनुज भव-सागर तरिहैं॥
तदनुरूप ही भक्त चरित अति ही सुखदाई।
अपनेतें हूँ अधिक स्वय हरि महिमा गाई॥
भक्त कहो भगवन्त वा, भेद न एक सरूप हैं।
भक्ति भवनके भूप हैं, दोनो चरित अनूप हैं॥

भागवती प्रक्रिया

(८)

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥१

(श्रीभा० १ स्क० २ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

जिनको यश गुण नाम गान है सुखकर अतिशय।
कथा कीरतन करहिँ कलुष काननिकूँ मधुमय॥
साधुजननिके सहृद् सबनिके जो हैं स्वामी।
अच्युत अजर अनादि अगुण अज अन्तर्यामी॥

कृष्ण कथाके रसिक वर, श्रोता तिनके हृदय बसि।
अशुभ वासना मलिन मति, देत तुरत हैं नाथ नसि॥

औषधि की प्रशंसा सुनकर उसी रोग का रोगी जब उसे सेवन करने की इच्छा करता है, तब उसे उसके सेवन की विधि, पथ्यापथ्य की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अस्त्र-ज्ञान की

१ साधुजनों के सुहृद्, पुण्य श्रवण कीर्तन श्री भगवान् वासुदेव अपनी कथा सुननेवाले भक्तों के हृदय में विराजमान होकर उनकी समस्त अशुभ वासनाओं को नष्ट कर देते हैं।

इच्छावाला उनके प्रयोग उपसंहार आदिको भी समझना चाहता है। यंत्र, मंत्र, तन्त्र सभी बिना प्रक्रिया समझे निष्फल हो जाते हैं। सूतजीके द्वारा भगवत्-तत्त्व की ऐसी प्रशंसा सुन कर शौनकादि मुनियोंको भागवती कथाकी प्रक्रिया सुननेकी जिज्ञासा हुई। वे सूतजीसे बोले—"महाभाग सूतजी! आपने भागवती कथाकी बड़ी प्रशंसा की। समस्त अशुभों का, सभी प्रकारके दुःखोंका नाश आपने एकमात्र भागवती कथाका आश्रय ग्रहण करनेसे ही बताया। कृपा करके हमें यह समझाइये, कि भागवती कथाका श्रवण कैसे करना चाहिये? कहाँपर करना चाहिये? क्या करते हुए करना चाहिये? किनके साथ रहकर करना चाहिये? इन सब बातोंका तथा और भी जो इनके उपयोगी हों, उन सबका यथावत् वर्णन कीजिये। सूतजी! आपकी वाणीमें रस है। हम सबको और कोई झंझट तो है नहीं, अतः आपके मुख से श्रीकृष्ण-कथा श्रवण करके हमें बड़ा सुख मिलता है। आप हमसे सब प्रक्रिया सरलताके साथ कहिये।"

ऋषियों के ऐसा प्रश्न करने पर सूतजी ने कहा—महानुभावो! महर्षियो! आपने अत्यन्त ही उपयोगी प्रश्न पूछा। मैं आपको भागवती प्रक्रिया बताता हूँ। आप सब मेरे ऊपर कृपा-की दृष्टि रखकर श्रवण करें।"

'जिस पुरुषको भागवत धर्मकी जिज्ञासा हो, उसको सबसे पहिले उसमे अत्यन्त रुचिका होना बहुत आवश्यक है, क्योंकि बिना रुचिके जो कार्य किया जाता है, उसमे रस नहीं आता और नीरस कार्य्य बहुत दिन तक हो नहीं सकता। इसलिये सबसे पहिले तो वासुदेव-कथामें रुचि होनी चाहिये।

"आप कहेंगे कि मनुष्योंकी स्वाभाविक रुचि तो विषयोंमें है। विषयोंके भोगोंकी कोई शिक्षा नहीं देता। लोग उन्हें बिना सीखे ही जन्म-जन्मान्तरोंके संस्कारोंके अधीन होकर करने लगते हैं और धर्मकी तथा जप, उपवास, सन्ध्या-वन्दनकी इतनी शिक्षा देते हैं, प्रशंसा करते हैं, कि उनमें रुचि नहीं होती। आप कह रहे हैं, रुचिके बिना कार्य होता ही नहीं, तो फिर भागवती कथामें रुचि कैसे हो?

यह बात ठीक है कि मनुष्यकी आरंभमें किसी बातमें रुचि नहीं होती; किन्तु निरन्तर करते रहनेसे उसमें स्वतः रुचि उत्पन्न हो जाती है। बाल्यकालमें बच्चोंको माँके दूध को छोड़कर अन्नमें रुचि नहीं होती; किन्तु माता उसे धीरे धीरे थोड़ा-थोड़ा नित्य अन्नका सेवन कराती है। अन्न तो स्वादुमय होता है। नित्यके सेवनसे उसमें रुचि आने लगती है, फिर उसका इतना अभ्यास हो जाता है, वह जीवन में ऐसा एकाकार हो जाता है, कि मनुष्य अन्नके बिना रह ही नहीं सकता।

इसी प्रकार जिज्ञासुको सबसे पहिले ऐसे साधु सन्तों की सेवा करनी चाहिये, जिनका आहार ही कथा-कीर्तन हो। जो कथा कीर्तन के बिना रह ही न सकें। सज्जनों की यही मोटी पहिचान है कि वे मिलकर जहाँ भी बैठेंगे, जो भी बात करेंगे, संसारी बातें न करेंगे। उनके यहाँ भगवच्-चर्चा होगी। भगवच्-चर्चा अनुकूल पुण्य प्रदेशमें सहस्रगुनी फलवती होती है। सब वस्तुओं पर देशका बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिस देशमें जिन विचारोंके अधिक लोग रहते हैं, उस देशका वायुमंडल भी वैसा ही बन जाता है। तीर्थोंमें अनादि कालसे लोगों

की पवित्र भावनाएँ रही हैं। अब भी जो यात्री तीर्थयात्राके निमित्त आते हैं, उनम अधिकाश शुद्ध धार्मिक भावना ही लेकर आते हैं। श्रीगगा जो आदि जगत्‌को पावन करनेवाली पावनतम सरिताओंम लोगोंकी अत्यत श्रद्धामयी भावनाएँ भरी रहती हैं, अत निरन्तर पवित्र तीर्थोंके सेवनसे भी भगवत्-कथाओंमें रुचि बढती है।

सर्वप्रथम किसी पुण्य पवित्र तीर्थम कृष्ण-कथा लोलुप सतोंके समीप रहकर उनकी श्रद्धापूर्वक सेवा-सत्कारसे प्रसन्न करके उनके साथ-साथ कृष्ण-कथाका श्रवण करना चाहिये। भगवान्‌की कथाओंम रुचिका न होना, यह पूर्व जन्मके पापोंका फल है। इसलिये मन भी न लगे तो सतोंके बीच में बैठकर बेमन से भी, बिना समझे भी कथा सुननी चाहिये। ऐसा करनेसे धीरे-धीरे कथामे रुचि भी बढती है और विषय भी समझमें आने लगता है।

कथाको नियमसे सुनना चाहिये। उसमे कभी भी प्रमाद न करे, भूल न करे। स्वय पढनेकी अपेक्षा कथाके श्रवण करनेमे भी अधिक लाभ है और अकेले सुननेकी अपेक्षा बहुतसे लोगोंके साथ मिलकर सुननेमें उससे भी अधिक लाभ है। साधरण लोगोंकी अपेक्षा महत् पुरुषों के समीप बैठकर उसका अनन्त फल हो जाता है। महापुरुषोंके शरीरसे जो एक प्रकारकी दीप्ति निकलती है उससे मन स्वत वशम हो जाता है। उनकी तो कथामे स्वाभाविक रुचि होती है। उनकी रुचिका समीपमे बैठे हुए श्रोताओंपर भी प्रभाव पड़ता है। जैसे, किसीको दु खम रोते हुए देखकर और लोगोंकी आँखोंमे भी आँसू आ जाते हैं। जैसे, किसीको

खट्टी (नीबू आदि) वस्तु खाते देखकर आस-पासके लोगों के भी मुखमें पानी भर आता है, जैसे; विवस्त्रा प्रमदाको देख कर निर्विकार लोगोंके मनमें भी विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसे, किसी हँसते हुए बच्चेको देख कर, प्रसन्न मुख-व्यक्ति को देखकर हमें भी प्रसन्नता होती है जैसे किसी बड़ी-बड़ी आँखोंको देख कर हमारी आँखें स्वतः सुखका अनुभव करने लगती हैं और दुखती हुई लाल-लाल पानी भरी आँखों को देख कर, अपनी आँखों में भी किरकिरी सी चुभने लगती है और पानी भर आता है। जैसे किसीको वीरता करते देख कर, वीरताकी वक्तृता देते देखकर कायरोंके हृदयोंमें भी उत्साह भर जाता है, जैसे, किसी अत्यन्त घृणित बीभत्स दुर्मेध्य पदार्थको देखते ही जी मचलाने लगता है, वमन तक हो जाता है। उसी प्रकार महापुरुषोंके समीप बैठकर कथा सुननेसे साधकोंको अत्यन्त लाभ होता है, क्योंकि जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति है, उसके शरीरमें सभी सद्गुण स्वतः ही आकर निवास करने लगते हैं, इसलिये सबसे पहले कल्याणेच्छुको पुण्यतीर्थोंमें रहकर, महापुरुषों के सत्संगमें बैठकर भगवान् वासुदेवकी कथा सुननी चाहिये।

ज्यों-ज्यों कथा-कीर्तनमें रुचि बढ़ती है त्यों-त्यों हृदयकी गन्दी कोठरी स्वच्छ होती जाती है। जैसे कोई आश्रम बहुत दिनोंसे गन्दा पड़ा हो, तो उसमें नियमसे रोज झाड़ू देने से, जाले आदि साफ करनेसे, कलई चूनेसे पोतने से वह स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार दुर्वासनाओंके द्वारा मलिन हुआ मन, कानों द्वारा भगवान्‌का नाम भीतर पहुँचते ही शुद्ध होने लगता है। फिर भगवान् वहाँ हृदय की कोठरी में आसन मारकर बैठ जाते हैं। जहाँ भगवान ने उस पर अपना

अधिकार जमाया, फिर तो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दस्यु जो अब तक उसे अपना अड्डा बनाये हुए थे, सिरपर पैर रख कर भागना चाहते हैं। बुरी वासनाओंवाला जो उनका बहुत-सा परिवार बढ गया था, ये सब भी चलनेको उद्यत होते हैं। दुष्टोंको विनाश करनेवाले प्रभु अपना सुदर्शन चक्र लेकर उन सबका नाश कर देते हैं, जिससे ये फिर कभी न आ सकें, तब वह अन्त करण निष्कण्टक विशुद्ध बन जाता है।

अबतक जीव उन काम क्रोधादिको ही अपना समझे बैठा था। उनसे ही प्रेम करता था। वे सब मर गये। अब प्रेम किससे करे ? बिना प्रेम किये प्राणी रह नहीं सकता। जब पुराने प्रेमी नष्ट हो गये तो जो पुते स्वच्छ घर मे परम मनोहर मदनमोहन आकर बैठे हैं उनके प्रति प्रेम उत्पन्न होगा। जैसे खेत ऊबड़-खाबड़ बिना जुता हुआ पड़ा रहे तो उसमें बुरी-बुरी काँटेदार बेलें, इधर-उधरके अनावश्यक पौधे उत्पन्न हो जाते हैं, उसी खेतमेंके जब उन अनावश्यक पौधोंको काट दिया जाता है, उसे जोतकर, गोड़कर, जल देकर सुन्दर बना दिया जाता है और सुन्दर-सा बीज लाकर बो दिया जाता है तो फिर उसम उसी बीजके उत्तम अंकुर उत्पन्न होते हैं। उस अकुरको स्नेह-सलिलसे सींचते हुए, उसके समीपके कूड़े करकटको हटाते हुए, उसकी नित्य सेवा करते रहे तो उसमें सुमधुर सुस्वादु हृदयको सुख देनेवाले फल उत्पन्न होंगे। जिन्हें खानेसे तुष्टि, पुष्टि और क्षुधाकी निवृत्ति तीनों साथ ही साथ होगी। यह अन्त करण ही क्षेत्र है। पाप-पुण्य ही बीज हैं। सत्सगसे पृथक् रहना ही उस क्षेत्रकी उपेक्षा

है। सत्संग न करेंगे तो अनेक जन्मोंके पापोंकी जड़ अपने आप जम जायगी। यदि सत्संग रूपी कुठारसे उसको स्वच्छ बना दिया जाय और साधु-सेवा रूपी श्रम करके उसे जोत और जोड़ दिया जाय, भगवत्-कथा रूपी अमृत-रससे उसका सिंचन कर दिया जाय और भगवद्भक्ति रूप बीज उसमें बो दिया जाय तो प्रेम रूपी फल उसमें उत्पन्न होगा। प्रेम-फल कितना मधुर, कितना सुस्वादु है, कितना हृद्य है; उसके सेवन से चित्तमें कितनी निर्मलता और प्रसन्नता होती है, यह सब कहने की बात नहीं, अनुभव करने की वस्तु है।

हृदय में भगवत् साक्षात्कार होते ही सभी शोक, मोह दूर हो जाते हैं। हृदयके कोने-कोनेमें जो ग्रन्थियाँ पड़ गयी थीं वे सब तड़ाक्-तड़ाक अपने ही खुल जाती हैं। सभी प्रकारके संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जितने पाप-पुण्य आदि कर्म हैं, ये सब अपने आप भस्मी-भूत हो जाते हैं। उन वासुदेवके हृदयमें आते ही, एकदम परिवर्तन हो जाता है। पुरानी सभी बातें बदल जाती हैं। घोर अन्धकारका नाश हो जाता है। पुण्य-प्रकाश दशों दिशाओंमें छा जाता है। सभी मुँदे हुए कमल खिल जाते हैं। रुद्ध हुआ अमृतका स्रोत तीव्र गतिसे पुनः बहने लगता है। मानसरोवर क्षीरसागरका रूप धारण कर लेता है। यह जीव रूपी हंस उसमें किलोलें करने लगता है। उन अमृत सागरमें अवगाहन करके सुखी होता है, प्रसन्न होता है। किसी प्रकारका बन्धन नहीं कोई परिधि नहीं, कोई दुःख नहीं, कोई चिन्ता नहीं, कोई अप्राप्य वस्तु नहीं। अमृतकी वर्षा, अमृतकी झड़ी, अमृतका स्नान, अमृतका पान अमृतका चिन्तन, अमृत वाष्प बनकर

अमृत ही आनन्दमय हो जाता है। यह सब होता है भागवत सेवन से, अतः ऋषियो! सदा सर्वदा आपको भागवत का सेवन करना चाहिये।"

छप्पय

सेवनीय जो सदा सुलभ सुखदाई सबकूँ।
माखनचोर चरित्र मधुर अति ही श्रवनिकूँ॥
श्रोत्रमार्गतें प्रविशि हृदयमें जब आ जावे।
करें ज्ञान परकाश तुरत अज्ञान नसावे॥
ज्ञान सूर्यके उदयतें, मोह मलिनता दूर हो।
सब संशय छिनमें नसें, हृदय प्रेम परिपूर हो॥

श्रवण-परम्परा

[६]

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ॥१॥
(श्रीभा० १ स्क० ३ अ० ४० श्लो)

छप्पय

पुण्य पुराण महान् व्यास भगवान् बनाई।
परमहंस शुकदेव पुत्रकूँ पूर्ण पढ़ाई॥
गंगा तटपै नृपति परीक्षित् ह्वैकें शान्ति।
मुक्ति द्वारको मार्ग मुनिनितें पुनि पुनि पूछत॥
आये श्री शुकदेव तहँ, कही कथा नृपतें विमल।
कहूँ ताहि मुनिवर सुनहु, तहाँ सुनी मैंने सकल॥

परम्परागत गुण, अवगुण, प्राय. आगामी संतति में स्वतः आ जाते हैं, यदि किसी कारणवश किसी प्रकार की संकरता का समावेश न हुआ हो तो। इसीलिये आर्य संस्कृति में कुल-गोत्र

---

१ यह श्रीमद्भागवत नामक पुराण वेद-सम्मत है। इसमें उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र हैं। इसे भगवान् वेदव्यास ऋषि ने बनाया है।

पूछने की प्राचीन परिपाटी चली आती है। जो ज्ञान, वंश कुलीन है, वह वर्णाश्रम धर्म में आदरणीय होता है। अज्ञात कुलशील, परम्पराहीन ज्ञान प्राय उपेक्षणीय समझा जाता है। इसमें अनेक अपवाद भी होते हैं, किन्तु साधारण नियम ऐसा ही है।

सूत जी ने सक्षेप में श्रीकृष्ण के कला अंश और परिपूर्ण अवतारों का दिग्दर्शन कराया। इस ज्ञान को प्रामाणिक बताने के लिये तथा समुपस्थित श्रोताओं की उत्सुकता बढाने के लिये सूतजी अपने ज्ञान की परम्परा बताते हैं।

ऐसा पुरातन नियम है कि विज्ञ पुरुष अनधिकारी के सम्मुख कोई महत्व पूर्ण कथा नहीं कहते, क्योंकि वे समझते हैं, ऊसर खेत में बीज बोना व्यर्थ ही नहीं हैं, समय और शक्ति का दुरुपयोग भी करना है, इसलिये श्रवण के सम्बन्ध में सर्व-प्रथम नियम तो यह है कि अनधिकारी के सम्मुख ज्ञान को प्रकट न करना। दूसरा यह है बिना पूछे नहीं कहना। बिना पूछे कहने से बात का महत्व चला जाता है। तीसरा नियम यह है कि जितनी योग्यता का अधिकारी हो उतना ही ज्ञान प्रकट करना। उससे अधिक प्रकट करोगे तो वह उसे पूर्ण-रीत्या ग्रहण करने मे असमर्थ होगा। यदि अधिकारी की योग्यता से न्यून ज्ञान दिया, तो उसे सन्तोष न होगा, अत अधिकारी की योग्यता की परीक्षा के लिये पहले कोई बात सूत्ररूप में बतायी जाती है। उसे सुनकर यदि श्रोता की जिज्ञासा बढे और वह उस बात को विस्तारपूर्वक सुनने की उत्सुकता प्रकट करे तब तो उससे आगे की कथा कहनी चाहिये, नहीं तो उतनी ही कहकर समाप्त कर देनी चाहिये। ऐसी ही परिपाटी प्राचीन ग्रन्थों मे पायी जाती है। इसीलिये पहिले

सूत जी ने अत्यंत ही संक्षेप मे अवतारों का उल्लेख कर दिया। अवतार-कथा का ही नाम भागवती कथा है। ये समस्त अवतार श्रीकृष्ण से ही होते हैं। इन अवतारों के एक मात्र अवतारी नन्द-नन्दन भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण ही हैं। अत अवतार कथा श्रीकृष्ण-कथा ही है। श्रीकृष्ण कथा से केवल मथुरा वृन्दावन की कथा तथा द्वारका की कथाओं को न समझना चाहिये। जितने भी अवतारों की कथाएँ हैं सभी का समावेश कृष्ण-कथा मे ही हो जाता है।

समस्त ऋषिगण बड़ी श्रद्धा के साथ सूतजी के मुख से कथामृत का दत्तचित्त होकर पान कर रहे थे। उनकी उत्सुकता बढ़ रही थी। सम्पूर्ण शरीर मे सभी सात्विक भावों का उदय हो रहा था। उनकी ऐसी दशा देखकर सूतजी का हृदय भर आया। वे उन महाभाग ऋषियों की प्रशंसा करते हुए बोले— "ऋषियो! आपके भाग्य की कौन प्रशंसा कर सकता है? इसीलिये मैं आपको बार-बार महाभाग कहकर सम्बोधित करता हूँ। मैंने पृथ्वीपर विषयी लोगों को देखा है। विषयों मे उनका मन ऐसा एकाग्र होता है कि वे समस्त संसार को भूल जाते हैं। नयी वधू के आने पर जैसे उसका युवा पति सभी बातों को भूलकर उसी का चिन्तन करता रहता है उसी दृश्य को मैं यहाँ रखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ हूँ। मैं देख रहा हूँ, आपको श्रीकृष्ण-कथा से तृप्ति नहीं हो रही है। ज्यों-ज्यों मैं वर्णन करता हूँ, त्यों-त्यों आपकी उत्सुकता बढ़ती ही जाती है। एक तो आप सब उत्तम अधिकारी हैं। कुटुम्ब परिवार बन्धु बान्धव सभी से सम्बन्ध विच्छेद करके यहाँ भगवान् के चिन्तन के निमित्त बैठे हुए हैं। दूसरे यह क्षेत्र भी इतना पवित्र है कि यहाँ स्वतः ही चित्त एकाग्र होता है।

तीसरे यह श्रीकृष्ण कथा ही इतनी सरस, मनोज्ञ और चित्त को स्वत अपनी ओर खींचनेवाली है, कि कैसा पुरुष हो, सुनते-सुनते मुग्ध हो ही जाता है। भगवान वासुदेव की कथा का स्वाद जिसे एक बार लग गया, फिर भला वह दूसरी कुत्सित कथाओं को क्यों सुनने लगा ? इस कथा को सुनते-सुनते ही ससार विलीन हो जाता है। चित्त उसी चितचोर के चरणों मे फँस जाता है। फिर वह ससारी विषयों का चिन्तन कर ही कैसे सकता है। इस भागवती कथा से जब तक मनुष्य दूर रहता है, तभी तक उसका बन्धन है। जहाँ एक बार इसमें निमग्न हुआ कि फिर माया उसी प्रकार लज्जित होकर छिप जाती है, जैसे पीहर मे अपने पति को देखकर लजाती हुई लड़की छिप जाती है।

ससार के समस्त प्राणी इस ससार मे अपने पाप और पुण्य के कर्मानुसार सुख और दुख का भोग कर रहे हैं। ससार में बहुत से प्राणी पूर्वजन्मों के पापों से निर्धन हैं, दुखी हैं, नाना व्याधियों से ग्रस्त हैं, भयकर-भयकर राजरोगों से पीड़ा पा रहे हैं। बहुत से सुकृत, पुण्यात्मा पुरुष उनकी पीड़ा से दुखी होकर दयावश उनके लिये अन्न वस्त्र का प्रबन्ध करते हैं। औषधि उपचार की व्यवस्था करते है। इन कार्यों मे उनका कोई शारीरिक स्वार्थ नहीं होता। केवल कृपा के वशीभूत होकर, दया से द्रवित होकर, दुखियों के दुख दूर करने के निमित्त स्वय कष्ट उठाते हैं और उन्हे सुखी बनाते हैं।

आवागमन के चक्कर मे पड़े हुए प्राणियों को देखकर भगवान् वेद व्यास का नवनीत के समान हृदय द्रवीभूत हो गया। वे सोचने लगे—'इन प्राणियों का उद्धार कैसे हो ? ये विषय भोगों की ही चिन्ता करते करते तदाकार बन गये।

समस्त इन्द्रियों के विषय जड़ हैं। यदि ये जीव इसी प्रकार जड़ की चिन्ता मे निमग्न रहें, तो अन्त में इन्हें पशु-पक्षी, कीट, पतग, लता, वृक्ष आदि जड़-योनियों में जाना पड़ेगा। फि इनके उद्धार का कोई उपाय नहीं हो सकता, क्योंकि जड़ योनियों में स्वय साधन करने की सामर्थ्य नहीं रहती। साधक योनि तो यह मनुष्य योनि ही है। समस्त साधन इसी मानव शरीर से हो सकते हैं, अत उन्होंने जीवों के ऊपर कृपा करके भक्ति-भवन के द्वार के मार्ग को बतानेवाले, उसमें सरलता से प्रवेश करानेवाले, इस अनुपम भागवत शास्त्र की रचना की। इसमें समस्त शास्त्रों का सार ही भर दिया। इसीलिये यह सब शास्त्रों से बढकर हुआ।

आप कहेंगे, जब यह समस्त शास्त्रों से ही निकाला गया है, जब इसके समस्त चरित सम्पूर्ण ज्ञानशास्त्रों से लिये गये हैं तो यह सबसे बढकर कैसे हुआ? इसे आप ध्यानपूर्वक समझिये। हम पूछते हैं, गन्ना श्रेष्ठ है या मिश्री? आप कहेंगे गन्ना की अपेक्षा मिश्री श्रेष्ठ है। आप सोचें—मिश्री गन्ना से क्यों श्रेष्ठ है? मिश्री में एक भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो गन्ना से न लिया गया हो। मिश्री गन्ना के रस के सार से ही तो बनी है। केवल युक्ति कौशल से उसमें से परम उपादेय तत्वों को निकाल लिया गया है। वैसे गन्ने मे एक भी वस्तु व्यर्थ नहीं सभी का कुछ न कुछ उपयोग है। उसके प्रत्येक अश किसी न किसी जीव के काम में आएगे, किन्तु हम तो मधुरता के उपासक हैं। जिनको गन्ने के पुक्रम से काम चले, वे उसे ग्रहण करें, जिनको गुड़ की, लौटा की, चिउरा की, शीरा की, चीनी की आवश्यकता हो वे उनसे काम चलावें, हमें तो मिश्री चाहिये। इसी प्रकार घास की रग-रग में दूध है, किन्तु हम घास से दूध प्राप्त नहीं

कर सकते। यह काम तो गौ कर सकती है घास को खा कर उसका दूध बना देगी। अनन्त शास्त्रों में भरी हुई माधुरी को पचाकर व्यास रूपी कामधेनु ही सबको जीवनदान देने वाले मधुमय क्षीर को बनाने में समर्थ है।

समस्त जल का कोष तो समुद्र में ही है। कूपों में, तालाबों में, नद और नदियों में मीठा जल समुद्र से ही तो आता है। यदि सभी समुद्र सूख जायँ तो ये सभी जल के स्रोत बिना जल के हो जायँ। सबके जलदाता समुद्र ही हैं, किन्तु हम स्वयं समुद्र के समीप जाकर जल पीवें तो हमारी पिपासा शान्त न होकर और बढ़ेगी ही। बिना युक्ति के उसके समीप से हमें निराश होकर ही लौटना पड़ेगा। उसी जल को जब बादल भर कर बरसाते हैं, तो वह पीने योग्य मधुर हो जाता है। चराचर-प्राणी उसे पीकर प्रसन्न होते हैं, जीवन धारण करते हैं।

दूध से ही नवनीत बनता है, किन्तु दूध से कहीं अधिक स्वादिष्ट, पौष्टिक और बलवर्धक नवनीत घृत होता है। स्वर्ग की अप्सरायें, समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला पारिजात, जरा-मरण को दूर करने वाला अमृत, समस्त लोकों को दीप्ति देनेवाली विष्णुप्रिया लक्ष्मी, ये सभी वस्तुएँ, क्षीरसागर में ही छिपी थीं। प्रबल पराक्रमी दैत्य, सब गुणों की खानि देवता इन सबको न निकाल सके। जब श्रीहरि ने समुद्र मन्थन के द्वारा उस अमृत को प्रकट किया तो वह सभी के शोक, मोह, जरा-मृत्यु को हरने वाला पदार्थ उत्पन्न हुआ। श्रीहरि के बिना समुद्र का मन्थन करके उसमें से सार वस्तु को कौन निकाल सकता है ?

इसी प्रकार शास्त्र रूपी समुद्र को श्रीनारायण के कला अंशावतार भगवान् व्यास ने मथकर यह भागवत रूपी अमृत प्रकट किया। जब यह दिव्य अमृत प्रकट हुआ, तो उन्हें चिन्ता हुई; इसे किसको पढ़ावें। अनधिकारी को पढाना व्यर्थ है। उनके यहाँ बहुत से शिष्य थे। सभी ने कहा—'प्रभो! हमें पढ़ाइये, हमें पढाइये।' किन्तु सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यासजी ने किसी की प्रार्थना स्वीकार नहीं की। सभी से सरलता से कह दिया—'भैया, तुम इसके अधिकारी नहीं।"

इसी बीच उनके पुत्र शुकदेवजी प्रकट हुए। उन्हें इसका उत्तम अधिकारी समझकर भगवान् व्यास ने इस श्रीकृष्ण-कथा को पढ़ाया। निजानन्द में मग्न परमहंसचक्रचूड़ामणि भगवान् शुक ने इस सारातिसार रहस्य शास्त्र को गंगा किनारे दुखी बैठे हुए महाराज परीक्षित् को सात दिन में सुनाया था।

ब्राह्मण के शाप से शापित अन्न-जल का परित्याग किये हुए महाराज परीक्षित् ने श्रीशुक से यह सारातिसार शास्त्र श्रद्धा और संयम के साथ सुना। वहाँ वे चक्रवर्ती सम्राट् अकेले ही नहीं थे। उनके साथ सहानुभूति प्रकट करने के लिये सभी दिशाओं से ऋषि-मुनि पधारे थे और वे उन धर्मात्मा राजा को चारों ओर से घेरे बैठे थे।

वहीं यह ग्रन्थ प्रकट हुआ। यह ग्रन्थ क्या है, मानों स्वयं साक्षात् श्रीकृष्ण ही इस रूप में पुनः अवतीर्ण हुए। जब सम्पूर्ण संसार के स्वामी श्रीहरि इस धराधाम को त्याग कर स्वधाम पधारने लगे तब उनके साथ ही साथ दया, धर्म, ज्ञान, सत्य, शौच आदि गुण चले गये। ऋषि-महर्षि सभी बड़े दुखी हुए। सभी को अज्ञान—अन्धकार ने आकर आवृत कर

लिया। श्रेय और प्रेय का विवेक नष्ट हो गया। कुछ भी भला-बुरा दिखायी नहीं देता था। उसी समय यह भागवत रूपी महान् ज्ञान-सूर्य प्रकट हुआ। इसके प्रकट होते ही सब वस्तुएँ यथावत् दिखायी देने लगीं। सत्यासत्य और सारासार का विवेक होने लगा। इस ग्रन्थ ने सभी की आँखो में व्याप्त अन्धकार को दूर कर दिया। सभी कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय मे समर्थ हो गये।

संयोग की बात भगवत्-कृपा से उस महान् समाज में मैं भी उपस्थित था। मन लगाकर समस्त चित्त की वृत्तियों का निरोध करके मैंने भी इस शास्त्र को श्रद्धा सहित श्रीशुक के मुख से सुना। मुझमे इतनी सामर्थ्य कहाँ थी, जो इसे सुनकर यथावत् ज्यों का त्यों धारण कर लेता, किन्तु उन कृपालु प्रभु ने मुझे अधिकारी समझ कर ऐसी शक्ति प्रदान की। उन्हीं की कृपा से मैं इसे धारण करने में समर्थ हुआ।

हे ऋषियो! मैं उसी कामनीय कृष्ण कथा को, उसी वन्दनीय भागवत-शास्त्र को आप सबसे सम्मुख निवेदन करूँगा। अब आप सोचते हैं कि जैसे, परमहंस शिरोमणि भगवान् शुक ने जिस प्रेम से, जिस सुन्दर स्वर, जिस प्रकार गंभीरता और ओज के साथ समस्त ऋषियों के सहित महाराज परीक्षित् को सुनायी थी, उसी प्रकार मैं भी आपको सुनाऊँ, यह सम्भव नहीं। शुक, शुक ही हैं। मैं, मैं ही हूँ। कपोत भला गरुड़ की समानता कैसे कर सकता है? कौआ राजहंस की चाल कैसे चल सकता है, काक भला, कोयल की बोली कैसे बोल सकता है? फिर भी जैसी कुछ मेरी बुद्धि है और जैसा कुछ मैंने सुनकर धारण किया है, उसे आप लोगों को सिखाने के निमित्त नहीं, अपनी वाणी

को सार्थक बनाने के निमित्त आपसे कहता हूँ। आप सब सावधान होकर समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

श्रीनारायण बीज अमल अंकुर चतुरानन।
श्रीनारद तनु तनो व्यास शाखा अति शोभन ॥
श्रीशुक पावन पुष्प गंध है सरस सुहाना।
कृष्ण-कथा फल मधुर खाइँ मुनिवर विज्ञानी ॥
नृपति परीक्षित् शौनकहुँ, सेवें ऋषि मुनि सहित हैं।
वृक्ष भागवत भव्य अति, सब सुख जामें निहित हैं ॥

विराट् पुरुष

(१०)

स वेद धातुः पदवीं परस्य
दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ।
योऽमायया सन्ततयानुवृत्त्या
भजेत तत् पादसरोजगन्धम् ॥१

(श्रीभा० १ स्क० ३ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

हैं अनन्त भगवन्त अन्त न उनकूँ जानें ।
प्राणी प्रेम विहीन कहो कैसे पहिचानें ॥
पावन उनको चरित अमित मधुमय सुखदाई ।
लीला ललित ललाम लखैं जिन देहिं लखाई ॥
छाँड़ि कपट छल प्रेमतें, करहिं समर्पण कर्म सब ।
नाम, रूप, गुण, धामको, समुझि सकैं सत सार तब ॥

बिना भगवान् के तथा उनके भक्तों के चरित्रों का श्रवण गान किये कोई इस भवसागर से पार नहीं जा सकता, यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है। भगवान् की अवतार कथाएँ मनुष्य के

१ उन दुरन्तवीर्य रथाङ्गपाणि भगवान् परात्पर विधाता के जन्म, कर्म आदि रहस्यों को—उनकी पदवी को—वही पुरुष जान सकता है,

हृदय का स्वच्छ, मल रहित बना देती हैं। उनमें भगवान् के विशद वीर्य का वर्णन होता है। उनकी जीवों पर कितनी करुणा है, कृपा के कारण कैसे-कैसे कठिन कार्य करते हैं, इन बातों का सर्वत्र समावेश रहता है। भक्तों के अधीन होकर वे सब कुछ कर सकते हैं। ये प्रसंग पुनः पुन आते हैं। इनके श्रवण से अन्त करण मे सुख होता है और विश्वास बढने लगता है कि कृपासिन्धु की कृपा का एक आध विन्दु हमारे ऊपर भी कभी पड़ जायेगा। इसीलिये अवतार कथाएँ ही एक मात्र सदा श्रवणीय हैं। उन्हीं के वर्णन का नाम "भागवत" है। सूतजी के ऐसा बार-बार कहने पर सब ऋषियों की ओर से शौनकजी कहने लगे—"महानुभाव! आपने अवतार कथाओं को तथा उन्हीं के सम्बन्ध से भक्तों की कथाओं को भागवत कहा है। अब हम अत्यन्त संक्षेप में पहिले मुख्य-मुख्य अवतारों को सुनना चाहते हैं। उन अवतारों को सुनाने के अनन्तर आप हमें उनकी दिव्यलीलाओं को विस्तार के साथ सुनावे।"

ऋषियों के ऐसे प्रश्न को सुनकर सूतजी कहने लगे—"हे ऋषियो! आप धन्य हैं जो संसारी सभी विषयों से पराङ् मुख होकर इस परम पावन पुण्य भूमि मे बैठकर श्रीकृष्ण-कथा श्रवण करने में लगे हुए हैं। भगवान् के अवतारों की लीलाओं का प्रश्न कराने वाला और कथन करने वाला दोनों ही धन्य हैं। इस जिह्वा की यही एक सबसे बड़ी सार्थकता है, कि वह श्रीकृष्ण-कथा का कथन करे और श्रवणों की सर्वश्रेष्ठ सार्थकता

जो बिना छल-कपट, माया प्रपच के निरन्तर, अत्यन्त प्रेम के सहित उन्हीं के अनुकूल आचरण करता हुआ उनके पादपद्मों की पवित्र गन्ध का श्रद्धा से सेवन करता है।

इसी में है कि वे सर्वाधार श्रीहरि की लीलाओं का श्रद्धा के साथ श्रवण करें। मैं आपसे मुख्य-मुख्य अवतारों का कथन करता हूँ। आप सब सावधानी के साथ श्रवण करें—

सृष्टि के आदि में सर्वप्रथम श्रीहरि का पुरुषावतार हुआ, जिसकी वेदों में पुरुष सूक्त से स्तुति की है। यह अवतार सृष्टि की रचना के निमित्त हुआ। जीवों के शुभाशुभ भोगने के निमित्त उनके शरीरों की उत्पत्ति के लिये ही यह आदि अवतार हुआ। समस्त विश्व चराचर, देवता, नाना अवतारों की उत्पत्ति इसी से हुई है। अनन्त ऐश्वर्य की स्वामिनी श्रीजी का यही सर्वप्रथम इकलौता पुत्र हुआ। विश्व का बीज इसी पुरुषावतार में निहित है, जिसका वर्णन भाषा के द्वारा नहीं किया जा सकता, जो इन्द्रियों से परे हैं, जहाँ प्रकृति, माया, अविद्या की गंध भी नहीं, जहाँ सूर्य, चन्द्रमा नक्षत्र, पंचभूतों के बिना ही कार्य्य चलता है। ऐसा एकलोक है। लोक कहना भी उपलक्षण मात्र है। वह उत्पत्ति, विनाश, वकार, परिवर्तन, निरानन्द से रहित है। वहाँ सर्वेश्वर अपनी परमाह्लादिनी शक्ति के सहित नित्य नयी-नयी लीलाएँ करते हैं। नयी इसलिये कही जाती है, क्योंकि प्रेम का स्वरूप ही नित्य नूतन होता है। वहाँ का प्रेम भी विलक्षण ही है, किन्तु करें क्या? हम वर्णन तो प्राकृत भाषा में कर रहे हैं, वहाँ कोई भाषा नहीं, एक ही प्रेम की भाषा है, वह वाणी से व्यक्त नहीं होती, इसीलिये विवश होकर हमें यहाँ के शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। हाँ तो 'वे' उन 'अपनी' की ओर निरंतर देखते रहते हैं। क्यों? इसलिये कि उनका सौंदर्य्य क्षण-क्षण में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट दिखायी देता है। अब जो मनमोहकता, सरलता दिव्यता थी—क्षण भर में उससे भी श्रेष्ठ हो गयी। यही दशा

उनकी है। अत. विना पलक मारे अनादि काल के युग-युग से वे एक दूसरे की ओर निहार रहे हैं, न दोनों की तृप्ति हुई है, न होगी। इस देखा-देखी में ही कभी-कभी विलक्षण क्रीड़ा हो जाती है। उसी क्रीड़ा का विकार यह विश्व है। उसमें उनका कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं, संकल्प नहीं; यों ही खेल-खेल में बीज उत्पन्न हो जाता है। जैसे बच्चे खेल-खेल में बीज बो देते हैं, खेलकर अपने घर चले जाते हैं। दूसरे दिन उन्हें याद भी नहीं रहती, कि हमने यहाँ बीज बोया था। दूसरे दिन दूसरे स्थान पर खेल रचते हैं। खेल में डाला हुआ वह बीज जल का संयोग पाकर वृक्ष हो जाता है, फूलने फलने लगता है। बच्चों को याद भी नहीं रहती कि यह हमारे ही डाले बीज से इतना बड़ा वृक्ष हो गया। उनका उद्देश बीज बोकर वृक्ष पैदा करना नहीं था। वह तो संयोगवश खेल में पड़ गया, उत्पन्न हो गया। यही दशा इस अनादि अनन्त विश्वब्रह्मांड की है। यह भी खेल-खेल में निर्मित हो गया।

मधुर तो मधुर ही है, फिर भी रुचि बदलने को बीच-बीच में चटनी चखने से स्वाद बढ़ जाता है। मान से प्रेम निखर जाता है। पतझड़ हो जाने से फिर नये-नये कोपल निकल आते हैं। यह पवन नहीं नूतनता का नियम है। विषयान्तर होने से पुनः प्रियप्रकृत विषय पर आने से उसमें अभिरुचि बढ़ती है। यह सब सोच-समझ कर नहीं किया जाता, यह स्वभाव है। पीछे दार्शनिक विचार के पुरुष एक सिद्धान्त में आबद्ध करके उसकी प्रक्रिया बनाते हैं।

अनादि काल से चली आती हुई लीला के प्रसङ्ग में किसी समय श्रीजी ने कहा—"इतने दिन हमें क्रीड़ा करते हुए

हो गये; किन्तु हमारे कोई पुत्र नहीं हुआ। हम चाहती हैं, एक पुत्र होता तो उत्तम था।"

वे बोले—"तुम यह सब झंझट जाने दो। तीसरे के बीच में आने से प्रेम बँट जाता है। बस, प्रेम में तो प्रेमी और प्रेम-पात्र—दो ही चाहिये।"

किन्तु जो संकल्प उठा वह पूरा होना चाहिये। अमोघ संकल्प ही तो प्रेम मार्ग की भित्ति है। ज्यों-ज्यों उन्होंने मना किया वे त्यों-त्यों ही अड़ती गयीं। परिणाम स्वरूप एक प्रिय पुत्र उत्पन्न हुआ। वे उसका बड़ी सावधानी से, बड़े स्नेह से, समस्त मोह ममता बटोर कर लालन-पालन करने लगीं। बात वही हुई, जिसकी आशंका थी, स्नेह बँट गया। एक में दो साझीदार हो गये। अद्वैत में द्वैत ने पदार्पण किया। यद्यपि वह द्वैत एकत्व से भी विशिष्ट था, द्वैत होता हुआ भी अद्वैत था, फिर भी मायापति और श्रीपति में उपाधि से ही सही कुछ भेद अवश्य था। दूध और पानी जो मिल गये हैं, अब पृथक् होने चाहिये, क्षण भर में ऐसा संकल्प उनके मन में उठा। काल तो वहाँ था नहीं, जो समय की गणना करके बता दे कि यह लीला कितनी देर में हुई, किन्तु यह एक जल में क्षणिक लहर के समान उठी और उसी में यह सब लीला हो गयी।

बच्चे ने माँ की गोद में प्यार पाया। वह अपनेमन को भूल गया। उसे आलस्य आया—क्यों जी, यहाँ आलस्य कैसे घुस गया? बस, अब तुम यह प्रश्न मत करो। जैसे यह क्षणिक संकल्प आ गया वैसे ही वह आलस्य भी था। बच्चे को जम्हाई आयी। माता ने उसका अनिष्ट दूर हो, इसलिये चुटकी बजायी। बच्चे ने मुँह फाड़ा तो उसके मुँह में भी

अद्भुत-अद्भुत चीजें दिखायी देने लगीं। हजारों सिर, हजारों हाथ, असंख्यों आखें, कान, नाक, मुह, उदर स्त्री, पुरुष, पेड़, पत्तो, पहाड़, नदी, वन, घोड़ा, हाथी, ऊँट, नगर, शहर, हजार मुख के, सौमुख के, चार मुख के अनन्त ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवता, यक्ष, किन्नर, गंधर्व तृण से लेकर सुमेरु तक, चींटी से ब्रह्मा तक, सभी उस मुख मे माता को दिखायी देने लगे। मूर्तिमान् महत्तत्व, अहंकार, शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, मन ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, सभी उसमे विद्यमान थे। किरीट मुकुटों से सुशोभित सहस्रों सिर कानों मे जगमगाते कुण्डल पहिने दिखायी देते थे। सम्पूर्ण चराचर जगत, असंख्यों ब्रह्माण्ड, उसमें समुद्र में मछलियों के समान घूम रहे थे।

कहाँ प्रेम की उपासना, कहाँ इस जग जंजाल का दर्शन, वे बड़ी खिन्न हुईं। छिः छिः, कैसा घिनौना पुत्र हुआ। मुझे इसकी आवश्यकता नहीं।

"कहाँ रखूँ इसे? अब तुम्हीं बता दो!" वे बोलीं।

"मैं क्या बताऊँ? जान बूझ कर तुमने यह सूआ पाल लिया! कोई बात नहीं। इसे महानार (जल) में रख दो। वहीं इसका अयन हो।" यही उनका सरल उत्तर था।

"ऐसा ही हो!" उन्होंने इतना ही कहा।

अब तक जो स्नेहमयी क्रोड़ मे क्रीड़ा कर रहा था, अब तक जिसका 'अयन' अङ्क था, क्षण भर में ही यह योगनिद्रा के वशी भूत होकर सलिल में शयन करने लगा। सद्य जात शिशु था, अभी तक नाभि का नाल भी छेदन नहीं हुआ था। भाग्य का खेल उसे सलिल की शैया मिली। जल के संयोग से वह नाभि नाल हरा-भरा हो गया। उसमें देखते-

देखते कमल लग गया। उसमें से एक चार मुँहवाले देवता हुए। क्षण भर में वह कमल पृथक् हो गया। उसी समय दूसरा कमल बन गया। उसमें भी सौ मुख का एक देवता था। उसने भी सृष्टि बनानी आरम्भ कर दी। वह सलिल-शायी शिशु जब साँस लेता तो ब्रह्मांड भीतर आ जाते और उस ताल से निरंतर ब्रह्मांडों की उत्पत्ति होती रहती। उसे न संकल्प करना पड़ता, न कुछ प्रयास ही। अपने आप असंख्यों ब्रह्मांड उत्पन्न होते और उसी में विलीन होते। सभी ब्रह्मांडों के पृथक् पृथक् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवता, मनु, प्रजापति, राजा, ऋषि, चराचर जीव पृथक्-पृथक् होते। उसे ब्रह्मांड उत्पत्ति का यन्त्र समझना चाहिये। उसे पता नहीं कितने ब्रह्मांड उत्पन्न हुए, कितने विलीन हुए? उसके रोम-रोम में असख्यों ब्रह्मांड छिपे हुए थे। फिर भी वे फैल फूटकर पड़े थे, आपस मे धक्का मुक्की नहीं हो रही थी। योगनिद्रा मे नेत्र बन्द किये वह सुषुप्ति सुख का आस्वादन कर रहा था। उसकी विश्वसृजन करनेवाली महामाया शक्ति स्वत. ही उसकी चरण सेवा कर रही थी। उसे किसी ने न तो यह सिखाया था, न किसी ने मन्त्र पढ़कर उसके साथ उसका पाणिग्रहण कराया था। वह उसके साथ ही उत्पन्न हुई और बिना सिखाये पढ़ाये ही सेवा मे जुट गयी।

यही आदि अवतार सभी अवतारों का मूल कारण है। सभी अवतार इसी से उत्पन्न होते हैं। उसके किसी अश से ये देवता, ऋषि आदि उत्पन्न हो जाते हैं और उसी मे विलीन हो जाते हैं। यह अवतार सृष्टि के निमित्त सब से आदि मे हुआ है, इसलिये इसे 'आदि' अवतार कहते हैं। सलिल मे शयन करने से, नारा मे निवास करने से, इसे नारायण भी

कहते हैं। शरीर रूपी पुरी में शयन करता है, इसीलिये इसे 'पुरुप' भी कहते हैं और विश्वब्रह्मांड में सब से विशेष इसकी शोभा है, इसलिये इसे विराट् भी कहते हैं। वेदों में इन्हीं विराट् पुरुप की भाँति-भाँति से स्तुति की गयी है; अतः हम इस विराट् पुरुप के पादपद्मों में श्रद्धा भक्ति के सहित प्रणाम करते हैं।"

छप्पय

ये अगणित ब्रह्मांड रहें सरसों सम जिनमें।
जड़, चेतन, चर, अचर सृष्टि उपजावें छिनमें॥
निहित तत्व चौबीस, आदि अवतार कहावें।
इनहीतें उत्पन्न, इन्हींमें फिरि मिल जावें॥
अज अनादि अव्यक्त प्रभु, अमित ज्ञान विज्ञान हैं।
नारायण। अव्यक्त विभु, वे विराट् भगवान् हैं॥

प्रथमावतार

(११)

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः ।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्य्यमखंडितम् ॥१॥

(श्रीभा० १ स्क० ३ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

दिव्य, दिगम्बर फिरें सनहिँ सम जगमें जिनकूँ ।
पाँच वर्षके सदा जरा व्यापे नहिं तिनकूँ ॥
राग, द्वेषतें दूरि ऊर्ध्वरेता व्रतधारी ।
अव्याहत गति रहें सरल जीवन हितकारी ॥
सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार कुमार वर ।
मन तिन पद पंकजनिकी रज श्रद्धातें धारि सिर ॥

ऐसा नियम है, जिस वस्तु को हम कुछ भी महत्व नहीं देते, जो हमारी दृष्टि में नगण्य, उपेक्षित है, उसी के लिये हमारी परम्परा में पैदा हुए पुरुष—हमारे उत्तराधिकारी लड़ते भिड़ते हैं, व्याकुल होते हैं, इन नाशवान् वस्तुओं मे कोई महत्व की वस्तु नहीं।

---

१ उन्हीं भगवान् ने प्रथम सनकादि कुमारों क सर्गमें स्थित होकर ब्राह्मणवेष बनाकर अखण्ड ब्रह्मचर्य्यवाले दुष्कर व्रत का पालन किया।

हम अपने ममत्व के कारण, अपनी वासनाओं की पूर्ति के निमित्त, अपने श्रम को अपना समझकर, उसकी फल-प्राप्ति का अधिकार समझकर वस्तुओं के लिये व्यग्र रहते हैं। उनमें निजत्व का अभिनिवेश करते हैं, और उनकी प्राप्ति में बाधा होने पर क्रोध करते हैं, अपने कटकों को नष्ट करने को उद्यत होते हैं। यही संसार है। कर्म ही बन्धन का हेतु है। असत् में सत् की बुद्धि रखकर उसे पाने तथा अपनाने का नाम ही माया अविद्या है। इस माया से ही जगत् सम्भव है। यह अनर्थ कारिणी माया बीच में न पड़े तब तो संसार कुछ है ही नहीं। सब खेल ही खेल है। सब सुखी रहें, किसी को कोई चिन्ता ही न रहे। सब आनन्द से खेलें, कूदें, नाचें, गावें, मौज उड़ावें, किन्तु इस अपनेपन के कर्मों ने सब गुड़ गोबर बना दिया। समस्त आनन्द को निरानन्द में परिणत कर दिया।

विराट् पुरुष का प्रादुर्भाव किसी सङ्कल्प से नहीं, खेल-खेल में ही हुआ। विराट् पुरुष का नाल भी जल में अपने आप ही हो गया, उनमें प्रयास, प्रयत्न, सङ्कल्प कुछ नहीं था। अब तक तो यह खेल ही रहा। इसमें करने कराने का अपने पराये का आरोप नहीं हुआ था। अब ये जो कमल से देवता पैदा हुए इनको देखने की इच्छा हुई। क्यों हुई? क्योंकि इनके हृदय में सकल्प घुस गया। कैसे घुस गया? अब हर बात में कैसे-कैसे मत करो। ऐसे कैसे-कैसे करते रहोगे तो कहीं कैसे का अन्त ही नहीं। उन प्रभु की इच्छा से ही देवता के मन में देखने की इच्छा हुई। इसी को मानकर आगे गाड़ी चल सकती है। हाँ, तो देखने की इच्छा होते ही चारों ओर चार मुख हो गये। उनमें इन्द्रियों ने आकर प्रवेश किया। चतुर्मुख देवता देखने लगे। अब इनकी इच्छा बढ़ाने की हुई, क्योंकि उत्पन्न हुआ

मनुष्य बढता है और जिस विषय में उसकी प्रवृत्ति है उसे बढाने की स्वाभाविक इच्छा होती है।

अब तक किसी के मन मे कोई विकार तो था ही नहीं। सभी कामविहीन ब्रह्मचारी थे, अमोघ सङ्कल्प थे। सब कार्य सकल्प से ही हुआ। इसमे बाह्य उपकरणों की, किन्हीं विशेष उपादानों की आवश्यकता नहीं थी। चतुर्मुख के सकल्प होते ही चार सुकुमार सदा प्रसन्न, मोह ममता से रहित, विशुद्ध ब्रह्मचारी हुए। इन्हीं का नाम असल में अवतार हुआ। कुछ तो इनमे माया का अश था ही। नहीं तो शरीर ही कैसे बनता, किन्तु कोई विशेष विकार नहीं थे। इनके सुन्दर स्वरूप को देखकर ब्रह्मदेव मुग्ध हो गये। ब्रह्मा जी के सङ्कल्प से हुए इसलिये व्यवहार में इन्हें ब्रह्मपुत्र कहते हैं। वास्तव मे तो ये किसी के पुत्र हैं ही नहीं। साक्षात् नारायण ही हैं किन्तु सृष्टि के सङ्कल्प के समय में उत्पन्न हुए इसलिये ये प्रथम ऋषि कहलाये। वास्तव में तो ये पूर्वजों के पूर्वज हैं। ब्रह्माजी से भी प्राचीन हैं, भगवत् स्वरूप ही हैं।

ब्रह्मा जी तो अपनी धुनि में थे उन्हें तो सृष्टि बढाने की चटपटी लगी हुई थी। बड़े प्यार से सम्पूर्ण स्नेह को बटोरकर मधुर वाणी से बोले—"पुत्रों! तुम बड़े सुन्दर हो, कैसा तुम्हारा मनोहर रूप है। जी चाहता है तुम्हें देखते ही रहे, किन्तु ऐसे कैसे काम चलेगा। मेरे सङ्कल्प में सहयोग करो।'

चारों कुमारों ने कहा—'आज्ञा कीजिये क्या करें?" प्रसन्न होकर चतुरानन बोले—' वत्स, यही करो कि जैसे तुम हो, वैसे ही बहुत से बना डालो। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भर दो। हमारा परिवार खूब बढे। सभी को हँसते खेलते देखें। यही मेरा मनोरथ है"

चारों बड़े ज़ोर से हँस पड़े और बोले—"देव! आपको यह क्या सूझी है? इससे क्या होगा?"

ब्रह्मा जी बोले—"अरे, होगा क्या? लोग अपने-अपने कर्मों को भोगेंगे, धर्म करेंगे, यज्ञानुष्ठान करेंगे, स्वर्ग पावेंगे। मोक्ष का साधन करेंगे।"

कुमारों ने पूछा—"जो धर्म न करें अधर्म करें, उनकी क्या दशा होगी?"

ब्रह्मा जी ने कहा—"अधर्म मे पाप होगा। पाप से दुःख की प्राप्ति होगी, नरक जायँगे, नाना यातनाओं को भोगेंगे।"

कुमारों ने कहा—"जो धर्म अधर्म दोनों से बच कर निरंतर भगवद् ध्यान में ही मग्न रहें, उनकी क्या दशा होगी?"

ब्रह्मा जी ने शीघ्रता से कहा—"अरे, इस विषय में क्या पूछना, वे तो साक्षात् जीवन मुक्त ही बने बनाये हैं।"

कुमारों ने कहा—"तब हमें आप इस सृष्टि के चक्कर में क्यों डालते हैं? कीच लगाकर फिर उसे जल से धोना, इससे तो श्रेष्ठ यही है कि कीच से दूर ही रहे; अत हमें यह झंझट रुचिकर नहीं है।"

ब्रह्माजी ने आश्चर्य के साथ कहा—"अरे, भैया, यह तुम कैसी बात कर रहे हो? ऐसा ही सब सोच लें तो फिर यह सनातन सृष्टि क्रम कैसे चलेगा?"

कुमारों ने हँस कर कहा—"मान लो, न चले तो इसमें हमारी हानि ही क्या? इच्छा है न चले लोग नाना प्रकार की आधि व्याधि से बचे रहेंगे। दुःख, शोक, चिन्ता, श्रम, ग्लानि से दूर रहेंगे।"

ब्रह्माजी ने कहा—"हमने जो सृष्टि के लिये इतना श्रम किया है, यह व्यर्थ ही जायेगा?"

कुमारों ने कहा—"आपने क्या श्रम किया है ? अभी तो सिवाय संकल्प के कुछ भी नहीं है। संकल्प को समाप्त कीजिये। सृष्टि विलीन हो जायगी।"

ब्रह्माजी ने कहा—"इतना जो तप किया है, उसी तप के प्रभाव से तो तुम्हारा प्रादुर्भाव हुआ है।"

कुमारों ने कहा—"अच्छी बात है, वह तपस्या हम सब भी करेंगे। तपरूप श्रीहरि की निरन्तर आराधना करेंगे।"

ब्रह्माजी ने झुँझला कर कहा—"केवल तप से ही काम थोड़े चलेगा। सृष्टि की वृद्धि के लिये भी कुछ श्रम करना पड़ेगा।"

कुमारों ने कहा—"प्रभो! यह काम हमसे न होगा।"

ब्रह्माजी ने अधिकार के स्वर में कहा—"क्यों नहीं होगा जी! हम तुम्हारे पिता जी हैं, हमारी आज्ञा का उल्लंघन करोगे ?"

कुमारों ने, सरलता के साथ कहा—"इसमें आज्ञा का उल्लंघन नहीं होता। यह तो सबसे श्रेष्ठ—सर्वोपरि कर्तव्य है। सर्वात्मभाव से इसमें लगे हुए पुरुष को फिर कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, न उसके लिये इससे बढ़कर कोई वस्तु है।"

बस, यह उपदेश ही सृष्टि का मूल कारण हुआ। कुमार शुद्ध सत्वप्रधान थे। ब्रह्माजी रजोगुण के वशीभूत होकर बातें कर रहे थे। यदि उस समय ब्रह्माजी विशुद्ध सत्व का आश्रय लेकर कुमारों की बात मान लेते, तो सृष्टि वहीं समाप्त हो जाती। सकल्प आगे न बढ़ता। सल्कपों के बढ़ने से ही सृष्टि का विस्तार होता है। अपनी आज्ञा का उल्लंघन हुआ समझ कर ब्रह्माजी का रजोगुण और अधिक बढ़ गया। अपनी अभीष्ट कामना की पूर्ति न होने से कामना ने उसी समय

क्रोधरूपी पुत्र को उत्पन्न कर दिया। वही क्रोध रुद्र रूप धारण करके निकल पड़ा। उसने ब्रह्माजी की आज्ञा का किस रूप से पालन किया इसका विशेष विवरण सृष्टि के प्रसंग में आवेगा।

जब तक प्रतिद्वन्दी उत्पन्न नहीं होता, तब तक उस वस्तु की विशेष वृद्धि नहीं होती। उन दोनों को समय में रख कर चलानेवाली तीसरी वस्तु की ही सृष्टि होती है। आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। सृष्टि के संकल्प से ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई। उन्होंने उसे रचा भी, किन्तु वह बढ़े कैसे। उसका प्रतिद्वन्दी भी तो हो; अतः सृष्टि को सहार करनेकी शक्ति वाले रुद्र उत्पन्न हुए। उन्होंने सहारक शक्तिकी वृद्धिमें परम पुरुषार्थ प्रकट किया अब ब्रह्माजी घबड़ाये, अब उन्हें उसकी वृद्धि और फिर रक्षा की चिन्ता हुई। अब केवल सकल्प से काम न चलेगा। अब तो खुल कर मैदान में आना पड़ेगा। अपने प्रबल पैंतरे दिखाने होंगे। सम्पूर्ण शक्ति लगाकर जैसे हो तैसे इसे बढ़ाना होगा। रजोगुण अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। यह सत्वगुण ही बीच में गड़बड़ी डाल रहा है, यही सृष्टि को बढ़ने नहीं देता। ऐसा सकल्प होते ही मोह महामोह आदि उत्पन्न हुए। उन्होंने सत्व को ढक लिया। सत्व के ढक जाने पर ब्रह्माजी को आवेश आ गया। वे सोचने लगे – ऐसे अनुनय विनय करने से सृष्टि कब तक बढ़ेगी? किस-किस को मनावें समझाते रहेंगे? कोई ऐसी मोहक वस्तु हो जिसके देखते ही लोग स्वयं सृष्टि में प्रवृत्त हो जायँ। बस, सकल्प करते ही ब्रह्माजी के दो भाग हो गये। अब तक तो वे संकल्प से ही द्वैत की सृष्टि में प्रवृत्त थे, अब वे स्वतः ही कर्म से, शरीर के दो हो गये। दोनों एक से थे, एक शरीर के दो अंग ही ठहरे, किन्तु सकल्प दो थे, मोहक बनाने का और सृष्टि बढ़ाने का, अतः इन

दोना भागों के दो पृथक् पृथक् लिङ्ग हुए। सृष्टि-सृजन के सकल्प से जो भाग हुआ वह पुलिङ्ग कहाया और मोहक सकल्प से जो हुआ वह स्त्रीलिंग के नाम से विख्यात हुआ॥ उनके प्रत्येक अग म मोहकता थी, शत-शत रूपों से वह मन को अपनी ओर

आकर्षित कर रही थी। अत ब्रह्माजी ने उस भाग का नाम शतरूपा रखा और जो दूसरा पुल्लिंग विभाग था वह मनु के

नाम से विख्यात हुआ। यही सृष्टि में सबसे आदि स्त्री-पुरुष हुए। इनसे सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति और वृद्धि हुई।

कैसी लीला है भगवान् की! एक ही अंग से दो, एक-से पैदा हुए। संकल्प के कारण एक दूसरे से मिलने को व्यग्र हो उठे। मनुदेव उस शतरूपा पर मन ही मन लट्टू हो रहे थे और शतरूपा भी उन्हें पाने के लिये व्यग्र बनी हुई थी। ब्रह्माजी दोनों के मनोभावों को ताड़ गये और अपने संकल्प की अनुकूल सिद्धि पर मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे। हाथ जोड़े हुए मनु ने अपने पिता से पूछा—"देव! मेरे लिये क्या आज्ञा होती है, मैं क्या करूँ।"

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छा, तुम एक काम करो। इसे अपनी बहू बना लो।"

मनुजी के मन में जो संकल्प था, शतरूपा जो चाहती थी, उसी को ब्रह्माजी के मुख से सुनकर दोनों के हृदय में गुदगुदी-सी होने लगी। दोनों के हृदय-कमल की मुँदी हुई कलियाँ खिल उठीं। अपनी प्रसन्नता को दबाते हुए मनुजी ने कहा—"पिता की आज्ञा तो बिना विचार के मान्य होती है। जैसी आपकी आज्ञा होगी वैसा ही हम करेंगे।

ब्रह्माजी ने कहा -'तुम बड़े अच्छे हो। अपने पूर्वजों—कुमारों—का तुमने अनुकरण नहीं किया।"

मनु बोले—"फिर हमें क्या करना होगा?"

प्रसन्नता से ब्रह्माजी बोले—"फिर तुम दोनों अपने अनुरूप बहुत सी सन्तानों को बनाओ। यह सृष्टि-क्रम बहुत बढ़े, ऐसा उद्योग करो।"

विराट् पुरुष की नाभि से जो कमल हुआ था, उसके सात भाग हो गये थे। ऊपर के ४ भागों (मह, जन, तप और सत्यलोक) में तो संकल्पी सृष्टि के उत्पन्न हुए यद्यपि भरे थे, किन्तु मूल तो है पृथ्वी, पृथ्वी में उत्पन्न होकर कर्म न करेंगे, अन्य लोकों में न जायँगे, तब तक सृष्टिक्रम की वृद्धि कैसे होगी ? इतना सब कार्य सत्यलोक में बैठे-बैठे ही ब्रह्माजी ने किया। यह मैथुनी सृष्टि तो ऊपर के लोकों में हो नहीं सकती। यही सब सोच समझकर आदि-पुरुष मनु ने पूछा—"हम लोग कहाँ रहें, कहाँ सृष्टि की वृद्धि करें ?"

ब्रह्माजी ने हर्ष के सहित कहा—"तुम लोग पृथ्वी पर जाओ। वहाँ अपना अधिकार जमाओ, वहीं सृष्टि बढ़ाओ, घर द्वार, राज परिवार बनाओ, नाना भाँति के अन्न, रस, फल खाओ, यज्ञादि करो कराओ और मौज उड़ाओ।"

"जैसी आज्ञा !" कहकर मनुजी ने भगवान् पितामह के पैर पकड़े। शतरूपा ने भी सिर से प्रणाम किया। पितामह ने आशीर्वाद दिया—"जाओ, तुम दोनों की जोड़ी फले फूले। बहुत बेटा, बेटी, नाती, पोता, पोती हों और मेरी ही तरह तुम भी अपनी सन्तानों से पूजित हो।"

दोनों का हृदय आनन्द से भर रहा था, लज्जा, संकोच के कारण वे कुछ भी न बोले। फिर ब्रह्माजी उपदेश करने लगे—"देखो, तुम्हारे अग्रज कुमारों ने मेरी बात नहीं मानी। उन्होंने तप में ही अपना चित्त लगाया। तप भी करना चाहिये, किन्तु सृष्टि को बढ़ाना, सन्तान पैदा करना, यह भी बड़ा पुण्यप्रद कार्य्य है। इससे बड़ा यश होता है। सुख समृद्धि की प्राप्ति होती है और पितरों को भी प्रसन्नता होती है।"

दोनों ने सिर झुकाकर ब्रह्माजी का उपदेश सुना। ब्रह्माजी सन्तानोत्पत्ति को पुण्यप्रद कार्य्य बता रहे हैं—यह तो ठीक ही है, किन्तु वे दोनों तो परस्पर स्वयं ही सृष्टि-वृद्धि के लिये उत्सुक थे।

उन दोनों की उत्पत्ति से ब्रह्माजी को सन्तोष हुआ और वे आगे की बात सोचने लगे।

छप्पय

सनकादिकने सृष्टि-कार्यमें योग न दीन्हों।
कह्यो कर्‌यो न कुमार कोप कमलासन कीन्हों॥
मनु सतरूपा भये देहतें द्वै नर नारी।
उनने श्रद्धा सहित सीख सब सिरपै धारी॥
आयसु पाई पिताकी, दोनों दुलहिन दुलहा मिलि।
सृष्टि रची सुखतें गई, हृदय कमलकी कली खिलि॥

अन्यावतार

(१२)

स वा इदं विश्वममोघलीलः
सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन् ।
भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः
षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः ॥१

(श्रीभा० १ स्क० ३ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

हैं मनमौजी नाथ सूत्रधर -विश्वविहारी ।
नये नये नित स्वाँग रचें लीला विस्तारी ॥
एक रूपतें रचें एकतें जगको पालन ।
रुद्र रूप धरि करें विश्वको वे सहारन ॥
कच्छ, मच्छ, वाराह वपु, धरिकें धरनी धारते ।
धर्म, धेनु, द्विज पालते, दैत्य-दुष्ट सहारते ॥

एक ही भगवान् सृष्टि-तन्त्र को चलाने की सुविधा के निमित्त अपनी शक्ति को ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन तीन रूपों में विभक्त कर लेते हैं; तत्वतः इनमें कोई भेद नहीं वे ही

---

१ वे अमोघ लीलाधारी श्रीहरि इस अखिल विश्व-ब्रह्माण्डों को रचते हैं, पालन करते हैं और अन्त में सहार भी कर लेते हैं, किन्तु

प्रभु जब सृष्टि करने लगते हैं तो ब्रह्मा कहलाते हैं। पालते समय विष्णु बन जाते हैं, संहारते समय शिव हो जाते हैं। अपने कार्यों के लिये ये ही देव जब विशेष-विशेष अवसरों पर विशिष्ट रूप रखते हैं, तब ये ही अवतार कहलाते हैं। सामान्यतया जितने मनु आदि प्रजापति हैं, सभी सृष्टि बढ़ाने के निमित्त ब्रह्माजी के अवतार हैं। इन्द्र, देवता, ऋषि, मनुष्य मनुपुत्र आदि-रूपों से सृष्टि का पालन करते हैं, अतः ये सब विष्णु के अवतार हैं तथा मन, काल आदि संहार करने वाले सब रुद्र के अवतार हैं। फिर भी भगवान् भक्तों के निमित्त और भी अनेक रूप धारण करते हैं, अतः वे सब विष्णु भगवान् के अंशावतार, कलावतार, आवेशावतार आदि नामों से विख्यात हैं। जैसे, जीव अनन्त हैं, ब्रह्माड अनन्त हैं वैसे ही अवतार भी हैं, फिर भी यहाँ कुछ अवतारों का वर्णन किया जाता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी आपने विराट पुरुष का तथा प्रथम अवतार श्रीसनकादि कुमारों का वर्णन किया अब आगे अनन्तवीर्य भगवान् के अन्य जो मुख्य मुख्य प्रसिद्ध अवतार हैं, उनके नाम बताइये।"

अवतारों के सम्बन्ध में ऋषियों की उत्सुकता देखकर सूतजी कहने लगे—ऋषियो! अवतार-कथा ही तो संसार में

स्वयं उनमें तनिक भी आसक्त नहीं होते। ये अपने आप में स्वाधीनता से स्थिर रहनेवाले आत्मतन्त्र भगवान् सब प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर, ज्ञानेन्द्रिय और मन के जो विषय हैं उनका अनासक्त भाव से भोग करते हैं, क्योंकि वे उन सबसे निस्पृह हैं।

एक मात्र श्रवण करने योग्य कथा है, और सब तो जंजाल है। ये कुमार तो निवृत्ति मार्ग के प्रदर्शक आदि-अवतार हुए। इससे यह सिद्ध हुआ कि संसार में ब्रह्मचर्य्य ही सार है। जो इस वृहद् व्रत का पालन न कर सके, वे प्रथम धर्म का आचारण करते हुए इधर बढ़ें। सब अवतारों का कारण धर्म का संस्थापन ही है।

ब्रह्माजी ने जब प्रजापति मनु को पृथ्वी पर जाकर सृष्टि करने की आज्ञा दी, तो उन्होंने ध्यान लगाकर देखा तो पता चला, कि सृष्टि की जो अधिष्ठात्री देवी है, उसे तो असुर पाताल में ले गये। ब्रह्माजी तो पैदा करना ही जानते हैं, रक्षा के लिये उन्हें विष्णु की शरण में जाना पड़ता है; अतः पृथ्वी की रक्षा के लिये वे मन से श्रीहरि की शरण गये। सहसा पृथ्वी की रक्षा करने के हेतु भगवान् ने सूकर-रूप धारण किया और पाताल से पृथ्वी का उद्धार करके उसे जल पर स्थापित किया।

बन्धन के कारण कर्म ही हैं। नैष्कर्म्य की प्राप्ति अकाम होने से होगी। मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किये ठहर नहीं सकता। फिर कैसे काम चले? तो क्या ये मर्त्यलोक के प्राणी इसी तरह अनन्तकाल तक पिसते रहेंगे? इनकी निष्कृति का कोई उपाय नहीं होगा? पृथ्वी पर कोई बिना कर्म किये ठहर ही नहीं सकता। क्या कोई ऐसे कर्म नहीं हैं, जिन्हें करने के बन्धन बढ़ने की अपेक्षा कटते जायें, जिनके करने से संसार का आवागमन छूट जाय? इस काम को सिवाय भगवान् के अवतार के कौन कर सकता है? अत देवर्षि शरीर का आश्रय लेकर, श्रीहरि ने नारद-रूप से अवतीर्ण होकर पंचरात्र भक्तिशास्त्र का प्रचार, प्रसार और प्रवचन किया। जिसके अनुसार किये हुए कर्म, बन्धन के कारण न होकर संसार से

मुक्त करने के कारण होते हैं। उनके द्वारा भगवद्-भक्ति की प्राप्ति होती है।

संसार में कामदेव को विश्व-विजयी कहा गया है। देवता, ऋषि, गन्धर्व कोई इससे नहीं बच सका। सभी को इसने पछाड़ दिया। शिवजी ने भस्म किया तो सही, किन्तु काम-विजय करके भस्म नहीं किया। क्रोध के द्वारा उसे अशरीरी भर कर दिया; किन्तु बिना क्रोध किये भी निरंतर तपस्या में ही लगे रहने से यह प्रबल-पराक्रमी शत्रु भी जीता जा सकता है। इसी आदर्श को संसार के सामने रखने के लिये भगवान् ने धर्म की पत्नी मूर्ति के गर्भ से नर और नारायण दो रूपों से अवतार धारण करके, मन और इन्द्रियों के निग्रह का मार्ग बताया तथा कठिन तपस्या करते हुए काम पर विजय प्राप्त की।

इस विश्व-ब्रह्मांड में सब कितने तत्व हैं, इनकी संख्या कौन कर सकता है? इसी निमित्त कपिल-रूप से भगवान् ने अवतार लेकर लुप्त हुए सांख्यशास्त्र का प्रचार किया। आसुरी नामक ऋषि को उपदेश करके उनके द्वारा उसका प्रचार-प्रसार किया। वह कृतयुगावतार हैं। प्रत्येक सतयुग में अवतीर्ण होकर ज्ञान का प्रसार करते हैं।

भगवान् अपने भक्तों पर कितनी कृपा रखते हैं, वे अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिये क्या क्या नहीं दे देते हैं, इसी बात को सिद्ध करने के लिये परम अवधूत रूप में भगवान् ने महर्षि अत्रि की पत्नी अनुसूया के गर्भ से उत्पन्न होकर प्रह्लाद अलर्क आदि को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। सहस्रार्जुन को विद्या और वरदान दिये। ये दत्तात्रेय भगवान् तपस्विनी अनसूया के ही तप से उनके वर माँगने पर प्रकट हुए।

ऋषियों ने पूछा—"सूत जी ! अनसूया ने क्यों वर माँगा ? भगवान् ने क्यों उसके यहाँ अवतार ग्रहण किया ? इस कथा को विस्तार के सहित हमें सुनाइये।"

ऋषियों के प्रश्न पर सूतजी बोले—"महाभागो ! इस समय में अवतारों का चरित्र नहीं बता रहा हूँ। यह तो मैं कुछ प्रसिद्ध अवतारों की तालिका दे रहा हूँ। सभी अवतारों के चरित्र का वर्णन आगे किया जायगा। अवतार कथा को ही तो भगवान कहते हैं। मैं आगे इन सब अवतारों के चरित्रों को विस्तार के साथ कहूँगा। इस समय तो आप संक्षेप में इनकी सूची मात्र ही श्रवण करें।

हाँ, तो स्वायम्भुव मन्वन्तर में भगवान् 'यज्ञ' नाम से प्रकट हुए। रुचि प्रजापति की पत्नी आकूति के उदर से अवतीर्ण होकर आपने मनु-पद पर प्रतिष्ठित होकर पूरे मन्वन्तर पर्यन्त त्रिलोकी का पालन किया।

जब लोग गृहस्थ धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ समझ कर उसी में आसक्त हो गये और परमहंस मार्ग की ओर से लोगों की रुचि कम हो गयी, तब स्वयं श्रीहरि 'ऋषभ' रूप से अवनि पर अवतरित हुए। उन्होंने दिगम्बर रहकर जीवनमुक्त दशा को सब के सम्मुख दर्शाया और प्राचीन परमहंस मार्ग की प्रतिष्ठा की। यह अवतार अज्ञजनों को भ्रम में डालनेवाला तथा विज्ञ जनों को मोक्ष-मार्ग बतानेवाला हुआ।

वेन के अधर्म आचरणों से ऊबकर पृथ्वी ने समस्त बीज अपने आप में छिपा लिया। संसार भूख से दुखी होने लगा। उस समय सृष्टि का आरंभ ही था। न तो पुरों की कल्पना थी न गाँवों की। पृथ्वी भी ऊबड़ खाबड़ सम-विषम थी। तब

भगवान् ने पृथु-रूप धारण करके पृथ्वी को अपने पराक्रम से सम बनाया। उससे अन्न ओषधियों को दुहकर प्रजा का पालन किया। पृथ्वी उर्वरा हो गयी। नरनाथ पृथु की पुत्री होने से ही यह धरा पृथ्वी कहायी। उन्होंने ही पृथ्वी पर ग्राम, महल, नगरों की कल्पना की।

जब वेदों को असुर हर ले गये और आगामी मन्वन्तर के भावी मनु वैवस्वत तथा समस्त बीज और महर्षियों के आश्रय का कोई स्थान न रह गया तब भगवान ने लोक निंदित मछली का रूप धारण किया; जिसे बहुत से लोग 'जल तुरई' कहकर भक्षण कर जाते हैं। उसी जलचर जीव का रूप धारण करके श्रीहरि ने सप्तर्षियों और मनु को प्रलय की बाढ़ से बचाया। असुर को मारकर वेदों का उद्धार किया। यही भगवान् का अवतार 'मत्स्यावतार' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

एक बार देवताओं की 'श्री' समुद्र में विलीन हो गयी थी। इसकी कथा विस्तार से आगे बतावेंगे। उस समय भगवान् ने क्रीड़ा के लिये—मनोरंजन के लिये—अपनी भक्तवत्सलता दिखाने के लिये, और न जाने क्यों बड़ी-बड़ी मायाएँ रचीं। यह लीला इतनी अद्भुत हुई कि एक अवतार से काम न चला, दो से भी नहीं, तीन से भी नहीं, तो चार अवतार धारण किये। एक अवतार से तो देवताओं को पट्टी पढ़ाकर प्रेरित किया। असुरों को राजनीति से समयानुकूल सन्धि करके समुद्र मथने की सम्मति दी। गरुड़ पर चढ़कर मन्दराचल को मथानी बनाकर उठा लाये और मथने के लिये क्षीरसागर में डाला। अब निराधार इतना भारी पहाड़ समुद्र के अथाह जल में कैसे ठहर सकता था, अतः आप ने लाखों

योजन लम्बा कछुए का रूप रखकर उसे अपनी पीठ पर धारण किया। अरे, इतने बड़े पहाड़ के घूमने से ये पीठ छिली न होगी! कष्ट तो हुआ ही होगा? अजी, तुम कहते हो कष्ट, उन्हें तो वह महापर्वत ऐसा लगता था मानो पीठ पर कोई चींटी रेग रही हो, मानो कोई शनै शनै पीठ को सुहरा रहा हो।

अब क्षीरसागर से अमृत लेकर निकलना किसी देव दानव का काम तो है ही नहीं। अत स्वय ही 'धन्वन्तरि' रूप से अमृत का कलश लेकर निकले भी।

कैसी लीला है? कुछ समझ मे नहीं आती स्वय ही तो मथ रहे हों, स्वयं ही अमृत लेकर निकले हों, फिर भी ऐसे अल्पवीर्य सिद्ध हुए कि असुर एक ही झपट्टे न इनके हाथ से अमृत लेकर भाग गये। ये देखते के देखते ही रह गये। देवताओं के मुख सूख गये। उनकी आकृति बिगड़ गयी। उनकी ऐसी दशा देख कर कुछ कृपा से, कुछ विनोद से लीलाधारी हँस पड़े और उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—"अरे, दुखी क्यों होते हो? मैं तुम्हें युक्ति से अमृत पिलाऊँगा, घबड़ाओ मत।"

अब आपने एक ऐसा रूप बनाया, जिसे न कहते बनता है न सुनते। कहाँ तो कुमार, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, नारद ऐसे अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले, छल-कपट से कोसों दूर, तपोनिष्ठ परम-सात्विक अवतार और कहाँ प्रमदा का अवतार, "दयानिधि! तेरी गति लखि न पड़े।" लोग से लुगाई बन गये।

'क्यों जी! लुगाई बुरी होती हैं क्या?' अजी, बुरी कौन बताता है अच्छी ही हैं। अब तक भी जितने अवतार लिये माताओं के गर्भ से ही लिये। वे माताएँ किसी की पत्नी ही थीं।

किसी भले आदमी की पत्नी के रूप में प्रकट होते वो कोई बात ही नहीं थी, किन्तु यह अवतार तो प्रमदा 'पण्यस्त्री' रूप में हुआ। जिसने असुरों को ही नहीं, लुभाया, देवाधिदेव महादेव को भी चक्कर में फँसा लिया। हे भगवन्! आपके इस अनोखे अद्भुत अवतार को दूर से ही नमस्कार है।

ब्रह्माजी के वरदान को सत्य करने के लिये तथा अपने भक्त की भी रक्षा करने के निमित्त भगवान् आधे नर और आधे सिंह-रूप से विलक्षण सिर बनाकर नृसिंह-रूप में अवतरित हुए।

राजा बलि बड़े धर्मात्मा थे किन्तु थे असुर। असुर होकर वे इन्द्रासन पर बैठ गये। इन्द्र को मार भगाया। इन्द्र और उनकी माँ भी उनके भक्त थे और बलि भी। अब क्या करें? धर्म-संकट में पड़कर आप बड़े से वामन बन गये। कपट का आश्रय लेकर बलि को पाताल का राजा बनाया और इन्द्र को स्वर्ग का। इस अद्भुत मनोहर कथा का वर्णन वामनावतार की कथा में करेंगे।

बहुत से क्षत्रिय ऐश्वर्य पाकर मदोन्मत्त हो गये। वे अपनी ब्रह्मण्यता को भूल गये। तब दयालु भगवान् ने अपने हाथ में फरसा उठाया। क्षत्रिय काँप गये। अरे, ऐसा अवतार तो आज तक उत्पन्न नहीं हुआ। ब्राह्मण होकर इतनी नृशंसता! उन्हें क्या पता कि माली इतने पेड़ों को निर्दय होकर कैंची से क्यों कतर रहा है? आस पास के पेड़ों को क्यों उखाड़ रहा है? इनका रहस्य तो माली या वृक्ष-विज्ञान के विशेषज्ञ ही जान सकते हैं कि कौन से पेड़ उखाड़ फेंकने योग्य हैं, कौन से काटने योग्य, कौन से बचाने योग्य? सो यह परशुराम अवतार ऐसा ही अवतार था।

प्रत्येक त्रेता में धर्म की रक्षा के लिये असुरों का संहार करने के निमित्त भगवान् रामरूप से अवतरित होते हैं। यह त्रेता का युगावतार इतना सौम्य, सरल, सघा, सुन्दर, साहसी, सतोगुणी, स्नेहभरित अवतार संसार में दूसरा न हुआ होगा।

जब द्वापर के अन्त में मनुष्य अल्पायु, अल्पज्ञान, शौच, सदाचार से हीन हो जाते हैं तथा महान् ज्ञान को धारण करने में असमर्थ हो जाते हैं, तब श्रीहरि प्रत्येक द्वापर के अंत में व्यास रूप से अवतीर्ण होते हैं। वेदों का व्यास करते हैं। पुराणों को संग्रह करके उन मनुष्यों के उपयोगी विभाग बनाते हैं। इतिहास कथाओं का संग्रह करते हैं तथा समस्त ज्ञान को सरलता के साथ लौकिक भाषा में प्रकट करते हैं। गत द्वापर में भगवती सत्यवती के गर्भ से भगवान् पराशर के वीर्य से कृष्णद्वैपायन नाम से भगवान् वेदव्यास रूप से प्रकट हुए, जिन्होंने समस्त पुराण तथा पुराणों में तिलक स्वरूप श्रीमद्भागवत की भी रचना की। वेदों का विभाग किया तथा लौकिक भाषा में पंचमवेद महाभारत का भी निर्माण किया।

उसी समय वृष्णि-वंश में रामकृष्ण रूप से दोनों अवतार साथ ही साथ हुए। बलरामजी तो धराधर शेषजी के अंशावतार हैं। श्रीकृष्ण को कोई नर-नारायण का अवतार कहते हैं, कोई भूमा पुरुष के कृष्णकेश का अवतार कहते हैं, कोई-कोई लोक रक्षक विष्णु का अवतार कहते हैं और व्यासजी कहते हैं—"ये सब अवतार कोई अंशावतार हैं, कोई कलावतार, किन्तु कृष्ण तो स्वयं साक्षात् परब्रह्म ही हैं। उनका अवतार नहीं, स्वयं जैसे थे वैसे ही हो गये। अपने नित्य लोक में जो

लीला माननीय नेत्रों से अप्रकट रूप से करते थे, उन्हीं सब लीलाओं को अपने समस्त परिकर के साथ आकर प्रकट रूप से कुछ क्षणों के लिये श्रीवृन्दावन धाम में किया। ये बड़ी रहस्य की बातें हैं। प्रसङ्ग आने पर आगे इस विषय पर विशेष विवेचन किया जायगा।

जब अधर्म को धर्म की आड़ में असुर करने लगे, जब पाप को पुण्य की पोशाक पहिनाकर इन्द्रियों की तृप्ति में मनुष्य लगते हैं, जब ब्राह्मणों का वेष बनाकर दैत्य मान प्रतिष्ठा और इन्द्रिय लोलुपता के लिये मिथ्या यज्ञ में प्रवृत्त हो जाते हैं, तब भगवान् उन असुरों को छलने के लिये 'बुद्ध' नाम से उत्पन्न हुआ करते हैं। यह अवतार दैत्यों को ठगने के लिये है। इनके उपदेशों को समझने के लिये दैवी सम्पत्ति सम्पन्न प्रज्ञा चाहिये। असुर तो इसके ऊपरी अर्थ को ही समझकर मुग्ध हो जाते हैं और धर्म से पतित हो जाते हैं।

जब घोर कलियुग आ जाता है, धर्म का लेश भी नहीं रहता, सर्वत्र अधर्म, अत्याचार, स्वार्थ और व्यभिचार का बोलबाला हो जाता है, तब उस अधर्म का नाश करने के निमित्त श्रीहरि कल्कि-रूप में अवतीर्ण होते हैं। यह कलियुग का युगावतार है। प्रत्येक कलि में यह अवतार होकर कलियुगी भावों का अंत करके सतयुग की स्थापना करता है। ये ही भगवान् के मुख्य मुख्य अवतार हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी, कुमारों को मिलाकर ये तो कुल २२ ही अवतार हुए। हमने तो भगवान के २४ अवतार सुने हैं।"

सूत जी ने कहा—"ऋषियो ! भगवान् के अवतारों की कोई निश्चित गणना नहीं। यदि गणना ही हो जाय तो फिर वे अनन्त कहाँ रहे ? २४ तो उपलक्षण मात्र हैं। इनके अतिरिक्त भी ध्रुव पर कृपा करने वाले ध्रुव विष्णु, गज को ग्राह से छुड़ानेवाले हरि विष्णु, हंसावतार विष्णु, हयग्रीवावतार, इस प्रकार भगवान् के अनन्त अवतार हैं। आगे अवतार प्रसग में और भी गिनाये जायँगे। जितने ऋषि हैं, मनु, देवता, मनुपुत्र, पराक्रमी राजा, प्रजापति सभी भगवान के अंशावतार हैं। सभी में उन्हीं हरि का अंश प्रविष्ट होकर त्रैलोक्य में पालन कार्य कर रहा है। कभी-कभी असुरों में भी अपना पराक्रम प्रविष्ट कर देते हैं, तो वे भी प्रवल हो जाते हैं और देवताओं तथा अवतारों को भी दबा लेते हैं। अनेक रूपों में वे नटनागर लीलाधारी बाँकेबिहारी क्रीड़ा कर रहे हैं।

जहाँ से ये कला और अंश निकलते हैं, वे श्रीकृष्ण तो परात् पर परिपूर्ण स्वयं भगवान् हैं। उनकी अवतारों में गणना नहीं, वे तो सब अवतारों के अवतारी हैं। उनके अंश और कला से प्रकट हुए अवतार दैत्यों को दमन और असुरों का संहार करते हैं। ये अवतार प्रत्येक युग में, प्रत्येक मन्वन्तर में उत्पन्न होते हैं। सब अवतारों के कार्य पृथक् होते हैं। अपने कार्य को करके वे अन्तर्धान हो जाते हैं। कई कार्यों के लिये कभी कभी कई अवतार एक साथ भी प्रकट होते हैं। महाभारत के समय कई अवतार एक साथ हुए—नर अवतार नारायण अवतार, बलराम अवतार, व्यासावतार, श्रीकृष्णावतार। इनके अतिरिक्त परशुराम, कपिल, नारद, कुमार—ये सब विद्यमान थे ही, अब भी हैं। सबका कार्य-क्षेत्र पृथक है, किन्तु श्रीकृष्ण का कोई कार्य नहीं। वे तो क्रीड़ा करते रहते हैं।

कभी-कभी अनुग्रह सृष्टि के जीव इस पृथ्वी पर अत्यधिक हो जाते हैं, तो उनके ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त स्वयं साक्षात् रूप से इस धराधाम पर अपनी लीला को प्रकट करके दिखा देते हैं। सब उसे देखने के अधिकारी भी नहीं। जिनका कर्म बन्धन कट गया है, जो उनकी नित्य लीला में सम्मिलित होने के अधिकारी हो गये हैं, जिन्हें उनके परिकर में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त हो गयी है, वे ही महाभाग इस प्रकट लीला के दर्शन के अधिकारी होते हैं। वैसे उनके अपने लोक में तो ये लीलाएँ नित्य ही होती हैं। भावुक भक्त भगवद्-अनुग्रह से भावना द्वारा भगवान् की इन लीलाओं का नित्य ही आस्वादन करते हैं। इन सब विषयों की चर्चा प्रसंगानुसार विस्तार से होगी।"

छप्पय

हैं कुमार, वाराह, कपिल, नारद अवतारा।
नर नारायण, ऋषभ, दत्त, पृथु, यज्ञ अपारा॥
धन्वन्तरि, नरसिंह, मत्स्य, कच्छप, वामन,हरि।
परशुराम, श्रीराम व्यास, बलराम, रूपधरि॥
कला अंश सभव सकल, शुभ अवतार महान हैं।
कृष्ण स्वयं भगवान् हैं, सबके आदि निधान हैं॥

———

पावन प्रश्न

(१३)

कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना ।
कुतः सचोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः ॥१

(श्रीभा० १ स्क० ४ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

सूत ! कहो अब कथा कहाँ कब काके द्वारा ।
प्रकट भागवत भई कहाँ कीयो विस्तारा ॥
व्यासदेव मुनि महा तनय उनके अति ज्ञानी ।
पागल प्रेत समान फिरें मानों अज्ञानी ॥
सुनी कथा कैसे कही, नृपति परीक्षित् प्रति सबहिँ ।
सूत ! सुनाओ सब कथा, हो सन्तोष हमें तबहिँ ॥

रहस्यमयी बात की भूमिका सुनकर उसको विस्तारपूर्वक सुनने की इच्छा स्वाभाविक ही होती है । जो बात सम्भव न हो

---

१ शौनकादि ऋषि सूतजी से पूछने लगे—"हे सूतजी ! आप हमारे इन प्रश्नों का भली भाँति उत्तर दीजिये कि यह भागवती कथा किस युग में प्रकट हुई, किस स्थान पर प्रकट हुई, और किस कारण से प्रकट हुई ! महामुनि कृष्णद्वैपायन भगवान् ने किसकी प्रेरणा से इस सात्वत् संहिता की रचना की ?"

उसके सम्बन्ध में जब कोई कहता है, तो मन में अनेक प्रश्न उठने लगते हैं, कि ऐसा तो सम्भव नहीं था। यह किस कारण से हुआ ?

सूतजी ने सूत्र रूप से कहा, कि यह भागवती कथा पहिले भगवान् व्यास ने बनायी, अपने प्यारे पुत्र शुक को पढ़ायी, शुक मुनि ने विप्र शाप से शापित राजा परीक्षित् को सुनायी। इसमें कई बातें ऐसी थीं, जिनका होना सम्भव नहीं था। एक से एक आश्चर्य की बात थी, अत. शौनकादिऋषि सूतजी से प्रश्न करने लगे।

शौनकजी बोले—"महाभाग सूतजी ! आप बड़े बुद्धिमान् हैं। बहुत-से लोग बुद्धिमान् तो होते हैं, किन्तु सब विषयों को समझने में समर्थ नहीं होते। किसी विशेष विषय में ही उनकी बुद्धि विशेषता दिखाती है; किन्तु आप तो सर्व शास्त्रों के ज्ञाता हैं, समस्त विषयों के विशेषज्ञ हैं। बहुत-से लोग स्वय तो सब बातों को भली भाँति समझ लेते हैं, किन्तु दूसरों के सम्मुख भली भाँति व्यक्त करने में समर्थ नहीं होते, परन्तु आप तो वक्ताओं में भी विशारद हैं। जिस विषय को आप जिस प्रकार समझते हैं, उसे उसी प्रकार श्रोता पर व्यक्त करने में भी समर्थ हैं। वक्तृत्व शक्ति सभी में नहीं होती। सहस्रों में कोई सुयोग्य वक्ता होता है। आप उन्हीं कुशल वक्ताओं में से हैं।

आपने कहा कि मैंने भगवान् शुक से भागवती कथा सुनी, सो कृपा करके उसी पुण्य कथा को हमें भी सुना दीजिये। आपके पिता समस्त पुराण और शास्त्रों के वक्ता थे, बड़े बुद्धिमान् थे, अतः आपका बिन्दु-कुल बड़ा ही पवित्र है। आप योग्य

पिताके सुयोग्य पुत्र हैं। आपने श्रीकृष्ण-कथा भगवान् शुकसे सुनी। शुकदेवजीके सम्बन्धमें कुछ कहना मानो सूर्यको दीपक दिखाना है। इनके पिता साक्षात् विष्णुके अवतार हैं। वे स्वयं परम विरक्त, महान् ज्ञानी और अद्वितीय भगवद्-भक्त हैं उनके आप शिष्य हैं, अतः आपका नाद-कुल भी परम पावन है। इस प्रकार आप विन्दु और नाद दोनों कुलोंके सम्बन्धसे कुलीन हैं। कुलीन पुरुष चाहे धनहीन और गुणों से रहित भी क्यों न हो वह वन्दनीय ही होता है। थोड़ा हो चाहे बहुत, कुल-परम्पराका प्रभाव प्रायः सभीमें होता है। शील ही मनुष्यकी शालीनताका द्योतक है और शीलगुण अधिकांश वंश-परम्परासे ही प्राप्त होता है, अथवा सज्जन पुरुषोंके संगसे भी प्राप्त हो जाता है। कुलीन पुरुषके सम्मुख की हुई याचना विफल नहीं होती। वह सदा सफल ही हुआ करती है। अत. जैसी आपने शुकदेव स्वामीके मुखसे कथा सुनी है वैसी ही आप हमें सुनाइये।

व्यास भगवान्ने इस लोकमें हितकारिणी, श्रीकृष्ण स्वरूप-धारिणी, कलिमलहारिणी बद्ध प्राणियोंको तारनेवाली और विरक्त ज्ञानी मुनियोंके भी मनको हरण करनेवाली भागवती कथा की रचना कहाँ पर की क्यों की, कब की, किस लिये की ?

आप कह सकते हैं, कि उन्होंने वैसी ही अपनी इच्छासे इसको रचा। यह तो ठीक ही है, किन्तु उन महर्षिके लिये स्वयं तो कोई कर्तव्य था नहीं, वे स्वयं आत्माराम हैं फिर भी उन्होंने लोक हितके लिए वेदोंका व्यास कियाँ, पुराणोंका संग्रह किया, उसी प्रकार इस कथा की भी रचनाकी या किसी दूसरेने उन्हे इस कार्य में प्रवृत्त किया। वैसे तो सभी कार्य ईश्वरेच्छा, दैव-इच्छासे ही होते हैं। भगवद् इच्छाके

बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता, फिर भी कार्योंके कारणों को देखकर कर्मोंके तीन विभाग किये हैं—एक स्वेच्छा से किया हुआ कर्म, एक परेच्छासे किया हुआ कर्म और एक दैवेच्छासे किया हुआ कर्म। दुर्योधनने स्वेच्छासे जुआ खेला, वनवासकी अवधि समाप्त होने पर उसे पाडवोंका राज्य लौटा देना चाहिये था, किन्तु उसने स्वेच्छासे नहीं लौटाया ऐसे कार्य स्वेच्छासे किये हुए कहलाते हैं।

अर्जुन युद्ध करना नहीं चाहता था। उसे अपने कुल परिवारका, पूजनीय पुरुषोंका वध करना अभीष्ट नहीं था। वह रक्तसे सने हुए राज्यकी अपेक्षा भिक्षावृत्तिपर निर्वाह करनेको श्रेष्ठ समझता था, किन्तु श्रीकृष्ण भगवान्‌ने प्रेरणा करके उससे युद्ध कराया, शत्रुओंका संहार कराया, पाडवों को एकछत्र सम्राट् बनाया। ऐसे कार्य जो दूसरोंके द्वारा प्रेरित किये जाने पर किये जाते हैं, परेच्छा कर्म कहलाते हैं। महाराज युधिष्ठिर कौरवोंको मारनेके अनंतर राज्य सिंहासन पर बैठना नहीं चाहते थे, किन्तु व्यासादि महर्षियोंने भीष्म पितामहने, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने उन्हें भाँति-भाँतिके उपदेश देकर, तरह तरहकी नीति समझा कर, राज्य करनेके लिये प्रेरित किया। स्वेच्छा से कार्य करनेवाला पुरुष निःशंक होकर करता है, दूसरोंकी बात जो उसके प्रतिकूल हो किसी प्रकार नहीं मानता। शंकित अवस्थामें प्रेरित कर्म किया जाता है। जब मनमें किसी विषयकी शंका हो और स्वयं उसका समाधान करके कार्यमें प्रवृत्त होने की क्षमता न हो, उस समय जो अपनेसे श्रेष्ठ, अपने हितैषी-जन, जिस कार्यको करनेको प्रेरणा करते हैं और उसे कल्याण कारक समझकर हम करने लगते हैं। यह परेच्छासे किया हुआ कर्म है। जिसे हम

स्वयं तो करना नहीं चाहते हों, किन्तु परिस्थितियाँ हमें उन्हें करनेको विवश कर दें और विना सोचे-समझे हमें प्रारब्ध-वश उनमें प्रवृत्त होना पड़े, तो उन कार्योंको दैवेच्छा कर्म कहते हैं। कुमारावस्थामें कुन्ती गर्भ धारण करना नहीं चाहती थी, किन्तु दवेच्छासे धारण करना ,पड़ा। वे अपने पुत्रको पादीमें परित्याग करनेको हृदयसे कटिवद्ध नहीं थीं, किन्तु परिस्थितियोंने उन्हें ऐसा करनेको विवश कर दिया। कर्ण अपने सगे भाई–पाडवोंसे—लड़ना नहीं चाहते थे, किन्तु भवितव्यताने ऐसा जाल रचा कि उन्हें अपने सगे भाइयोंसे लड़ना पडा और अपने छोटे भाइयोंकी पत्नी द्रौपदीसे अवाच्य वचन कहने पड़े। वैसे तो इन सबमें प्रभुकी ही इच्छा थी। इसलिए सूतजी! आप हमें यह बताइये कि भगवान् व्यासने इस भागवती सहिताकी रचना स्वत की या किसीकी आज्ञासे की? यदि किसीकी आज्ञासे की तो वह किनकी आज्ञा थी और उन्होंने क्यों आज्ञा दी?

एक बात आपने और भी आश्चर्यकी बतायी। उससे हमारा विस्मय अत्यधिक वढ गया। आपने कहा कि श्रीव्यासजीने यह पूरीकी पूरी वृहत् सहिता अपने पुत्र शुकदेवजीको सुनायी। श्रीशुकदेवजीकी चर्चा तो हम अपने पूज्य ऋषि-मुनियोंसे बहुत दिनोंसे सुनते आ रहे हैं। उनके त्याग-वैराग्यके सम्बन्ध में तो हमने अनेक प्रकारके अद्भुत-अद्भुत उपाख्यान सुने हैं। उनके उत्कट वैराग्यकी बात तो हम वहुत ऊँचा उठाती हैं, वे तो जन्मसे ही ससारी विषय वासनाओंसे उदासीन, द्वैतीभाव से रहित, सबको समान समझनेवाले और परमहस वृत्ति के थे। उनको तो पढने-पढानेका ज्ञान ही नहीं था। उनके

सम्बन्धमें हमने ऋषियोंसे एक बडी ही विचित्र कथा सुनी है।

हमने सुना है, शुकदेवजी १६ वर्ष तक इस ससारके बन्धनोंसे भयभीत होकर गर्भमें ही रहे। व्यासजीको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने द्वारकानाथ श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्‌से जा कर सब समाचार कहे। शुकके समाचारको सुनकर श्याम सुन्दर द्वारकासे व्यासाश्रमपर पधारे और उन्होंने गर्भस्थ श्रीशुकको आश्वासन दिया कि तुम्हें ससारकी माया व्याप्त न होगी। भगवत् वचनों पर विश्वास करके श्रीशुक गर्भसे बाहर हुए। बाहर होनेपर व्यासजी उनके लौकिक, वैदिक सस्कार करनेम प्रवृत्त हुए किन्तु उन्होंने उन कर्मोंका अनुमोदन नहीं किया। वे उन सभी सस्कारोंको विना कराये ही, जिस अवस्था में गर्भसे निकले थे, उसी नग्नावस्थामें वनको चले गये। व्यासजी पुत्र शोकसे दुखी हुए और 'हा पुत्र ! हा पुत्र !' कहते हुए उनके पीछे-पीछे दौड़े। किन्तु उन्होंने पीछे फिरकर भी नहीं देखा। ऐसे शुकने सम्पूर्ण सात्वत सहिता--यह भागवती कथा-कैसे पढी ? यही नहीं उन एकान्तमति महायोगीकी समदर्शिताके सम्बन्धमें एक और भी विलक्षण कहानी सुनी है।

जब वे नग्नावस्थामें अपने आपमें मग्न हुए वनकी ओर जा रहे थे, तो उनके पीछे पीछे बूढे व्यास भी पुत्र पुत्र कहकर दोड़ रहे थे। आगे उन्होंने भगवती सुरसरिमें स्नान करते हुए स्वर्गकी अप्सराओंको देखा। वे अपने सम्पूर्ण वस्त्र पुण्यतोया अलकनदाके किनारे रखकर—नग्न होकर—नहा रहीं थीं। जब उनके सामनेसे परमरूप यौवन सम्पन्न षोडश वर्षीय दिगम्बर श्रीशुक निकले, तो वे उसी तरह हँसती हुई, एक दूसरीके ऊपर

जल उलीचती हुई, नाना भाँतिकी जलक्रीड़ा करती हुई बिना किसी शील-सकोचके नहाती रहीं। श्रीशुकदेवजी जैसे वन, पहाड, वृक्षोंको भी देखते जाते थे, वैसे ही उन्होंने उन देवाङ्गनाओंको भी देखा। देवाङ्गनाओंने भी उन्हें देखा, उनके मन में कोई भाव ही नहीं उठा जैसे, और पशु पक्षी उड़कर इधर उधर जा रहे थे, वैसे ही उन्होंने शुकको भी एक सुन्दर पक्षी के ही समान समझा। शुकदेवजी अपने आनन्दमें मग्न हुए आगे निकल गये। जब उन अप्सराओंने शुकके पीछे हसके परोंके समान शुभ्र दाढी जटावाले भगवान् व्यासको देखा तो उन्होंने मारे लज्जाके अत्यन्त ही शीघ्रताके साथ अस्त व्यस्तावस्थामें अपने वस्त्र धारण किये। उन्होंने अपने सभी अङ्गों को ढक लिया

व्यासजी इस चरितको देखकर परम चकित हुए। वे मनमें सोचने लगे—"भैया, इन लुगाइयोंने तो आज विचित्र व्यवहार किया। परम रूप यौवन सम्पन्न नग्नावस्थामें मेरे पुत्रको देखकर तो ये नगी नहाती रहीं और मुझ बूढेको वस्त्र पहिने देखकर ये बडी लज्जावाली बन गयीं। बूढे से रहा नहीं गया, बातको पचा भी न सके। पचानेकी बात भी नहीं थी। यह तो अपने ऊपर लाञ्छन था, प्रत्यक्ष अपमान था। जाकर खड़े हो गये, और बात चलानेको पूछा—"पुत्रियो! इधरसे मेरा बेटा गया है, तुमने उसे इधर जाते हुए देखा तो नहीं?" लज्जा से अपने गुह्यअगों को यत्नपूर्वक ढकती हुई, अपने शरीरमें ही मानों घुस जाना चाहती हों, इस तरह सम्पूर्ण शरीर को सकुचित करके लज्जाके साथ उन्होंने उत्तर दिया—"हाँ, भगवन्! हमने उन महाभागको जाते हुए देखा

है, वे अभी इधर उत्तरकी ही ओर गये हैं। थोड़ी ही दूर पहुँचे होंगे।"

व्यासजीको पुत्रके सम्बन्धमें थोड़े ही पूछना था, पुत्र तो उनके सामने ही जा रहे थे, उन्हें तो बात चलानी थी! बात आरम्भ करनेकी भूमिका थी। जब बातचीत आरम्भ हो गयी तो उन्होंने कहा—"बेटियो! तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ, यदि तुम बुरा न मानो तो पूछूँ ?"

देवाङ्गनाओंने लजाते हुए कहा—"भगवन्! आप कैसी बात कह रहे हैं? आप तो हमारे पिताके समान हैं, अपनी पुत्रियों से भला ऐसे पूछा जाता है? आप बिना सकोचके जो पूछना चाहे पूछें। हम उसका यथामति उत्तर देंगी।"

व्यासजीने ममत्व प्रकट करते हुए कहा—"हाँ, तभी तो मैं पूछता हूँ। मैं यही पूछना चाहता था, कि मेरा पुत्र परम रूपवान् है, युवावस्था सम्पन्न है, उसके सभी अग सुडौल हैं, फिर भी वह दिगम्बर है, शरीर पर एक भी वस्त्र नहीं पहिने है। वह जब तुम्हारे समानेसे निकला, तब तुमने किसी प्रकार का शील सकोच नहीं किया। अनावृत स्नान करती रहीं खेलती कूदती रहीं और जब मैं बूढा आया, जिसके सब बाल सफेद हो गये हैं, वृद्धावस्थाके कारण इन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं हैं और जो सम्पूर्ण अंगों को वस्त्रोंसे ढके है, ऐसे मुझे देखकर तुम अत्यधिक लजा गयीं, अत्यन्त हड़बड़ाहटके साथ वस्त्र पहिनने लग गयीं, इसका क्या कारण है? एक तो मैं बूढा हूँ तुम्हारे पिताके समान हूँ, सत्शास्त्रोंमें पारगत हूँ, धर्मका व्यवस्थापक हूँ, मेरे ऊपर तो तुमने सन्देह किया, और जिस युवावस्थाको पाकर प्राणी उन्मत्त हो जाता है, कर्तव्याकर्तव्य

का ज्ञान भूल जाता है, उसी अवस्थाको प्राप्त मेरे पुत्रसे तुमने तनिक भी पर्दा नहीं किया। इसका रहस्य मुझे बताओ।"

उन देवाङ्गनाओंमें जो सर्वश्रेष्ठ थी, वह बोली—"भगवन्! न तो हमने आप पर अविश्वास किया है, न हमारा विचार आपके प्रति कुछ अन्यथा ही है; किन्तु हमने जो भी कुछ किया है नारी सुलभ स्वाभाविक लज्जाके ही वशीभूत होकर किया है। स्त्री कैसी भी क्यों न हो, उसमें शील, संकोच लज्जा रहती ही है!"

व्यासजी बोले—"हाँ, यह तो मैं मानता हूँ, किन्तु तुमने मेरे पुत्रके सामने लज्जा क्यों नहीं की?"

वही देवाङ्गना बोली—"प्रभो! लज्जा होती है, विकार की संभावनामें। जहाँ विकारकी संभावना नहीं वहाँ लज्जा भी नहीं।"

व्यासजीने कहा—'तब यह तो मेरे चरित्र पर प्रत्यक्ष अविश्वास प्रकट करना हुआ।'

हाथ जोड़े हुए थर-थर काँपती हुई भयभीत वाणी में वह देवाङ्गना बोली—"भगवन्! मैं आपके श्रीचरणोंमें सिरसे प्रणाम करती हूँ, मेरा अभिप्राय यह नहीं था। आपमें और आपके पुत्रमें इतना ही अंतर है, कि आपने तो संसारी सुख भोगा है। आपको यह ज्ञान है कि स्त्री भोग्या होती है, किन्तु आपके पुत्र संसारी सुखोंसे सर्वथा अपरिचित हैं। उनको स्त्री-पुरुषका ही भेद नहीं है। आप यह जानते हैं कि ये स्त्रियाँ हैं ये पुरुष हैं। इतना ही नहीं स्त्रियोंमें भी आपके मनमें भेदभाव है। हम छोटी अवस्थाकी हैं इसलिये आप हमें बार-बार पुत्री-पुत्री कहकर पुकार रहे हैं। यदि कोई आपके बराबरकी होती तो उसे आप बहिन कहते। आपसे

भी जो बहुत बूढ़ी होती उसे आप माता कहते और महाभाग शुकदेवकी जननीमें आपका पत्नी भाव है ही। आपको इतना भी ज्ञान है, कि सभी स्त्रियाँ किसी न किसीकी पत्नी होती हैं। आप यह भी जानते हैं कि परपत्नीसे संसर्ग करना पाप है, इसीलिये आप दूसरी समस्त स्त्रियोंको पुत्री, बहिन अथवा माताके समान समझनेका सदा प्रयत्न करते हैं। हम स्त्रियाँ भी छोटे बच्चोंसे जब तक मनमें भेदभाव नहीं होता, किसी प्रकारकी लज्जा नहीं करतीं। जब उसे स्त्री पुरुषका भेद होने लगता है, तो फिर चाहे वह हमारा पुत्र हो, भाई हो, उससे लज्जा करने लगती हैं। बड़ी होने पर पितासे भी लजाती हैं। आपके पुत्र तो जानते ही नहीं, स्त्री-पुरुष दो हैं। उन्हें स्त्री-पुरुषोंमें ही जब भेदभाव नहीं तो स्त्रियोंमें तो भेदभाव होना क्या था। इसीलिए हम निःशंक नहाती रहीं। उन्होंने हमारी ओर देखा भी, किन्तु उसी प्रकार जैसे वे पेड़, पर्वतोंको देखते जाते थे। न उनकी आँखोंमें कोई विकार था, न मनमें भेदभाव। आप चाहे दृष्टि बचाकर ही चले जाते, हमारी ओर देखना भी पाप समझते, फिर भी मनमें अवश्य सोचते—ये स्त्रियाँ कितनी निर्लज्ज हैं, जो मुझ पुरुषको देखकर भी नंगी नहाती रहीं। प्रभो! हमारा अपराध क्षमा हो। आपके पूछने पर ही हमने उत्तर देनेकी धृष्टता की, नहीं आपको कौन सिखा सकता है। देवताओंके गुरु बृहस्पति भी आपको शिक्षा देनेमें असमर्थ हैं। आप साक्षात् नारायण हैं। यदि हमारे उत्तरमें कोई अविनय हुई हो, तो उसे आप अपनी उदारतासे क्षमा करें और हमें अभय प्रदान करें।

देवाङ्गनाओंके ऐसे उत्तरको सुनकर व्यासजी लज्जित

भी हुए और प्रसन्न भी। लज्जित तो इसलिये हुए कि इन अप्सराओंने मेरे प्रश्न का कैसी मीठी भाषामें मुँहतोड़ उत्तर दिया। प्रसन्न इसलिये हुए कि मेरा पुत्र कितना निर्विकार है। समस्त प्राणियोंके हृदयमें उसके ममत्वकी कैसी छाप लगी है, किसीको इससे उद्वेग ही नहीं होता। ऐसा सोचते हुए व्यासजी आगे बढ़े। देवाङ्गनाएँ भी उन्हें भक्ति पूर्वक प्रणाम करके स्वर्गको चली गयीं।

सो, सूतजी! यह तो श्रीशुकदेवके सम्बन्धमें हमने भेदभावसे रहित समदृष्टिपनेकी बात सुनी। दूसरा चमत्कार शुकदेवने यह दिखाया कि जब उनके पिता उनके पीछे 'पुत्र! पुत्र!' ऐसा पुकारते हुए दौड़े आ रहे थे, तब उन्होंने वन के सभी वृक्षोंसे अपनी तन्मयता दिखाते हुए हाँ-हाँ!' ऐसा उत्तर दिलाया। सब वृक्षोंसे उत्तर पाकर व्यासजीने पुत्र विषयक अपना शोक त्याग दिया। वे समझ गये कि मेरा पुत्र सर्वभूतात्मा है। वह सभी प्राणियोंमें अपनेको देखता है और अपनेमें सब प्राणियोंको समझता है। ऐसे समस्त भूतों के अन्तरात्मा व्यासनन्दन श्रीशुकने इस महान् भक्तिवधक ग्रन्थको क्यों पढ़ा?ऐसी उनकी बुद्धि किस कारणसे हो गई? वे अपने ज्ञान-वैराग्यको भूलकर पठन-पाठनमें प्रवृत्त क्यों हुए? यह हमारा दूसरा प्रश्न है।

फिर आपने कहा कि विप्र-शापसे शापित गङ्गा किनारे अन्न जल छोड़े हुए मुनियोंसे घिरे राजा परीक्षित्‌को शुकदेवजी ने सात दिनमें यह भागवती कथा सुनाई और उसे सुन कर वे राजा मुक्त हो गये। इस विषयमें भी हमें कई शंकाएँ हैं।

पहिले तो यही, कि वहाँ सब लोगोंने परमहंस श्रीशुकदेव को पहिचाना कैसे? क्योंकि उन्होंने साधुपनेका, ब्राह्मण होने

का, ज्ञानी होनेका कोई बाह्य-चिह्न धारण ही नहीं किया था। यही नहीं, लोगोंको भुलानेके लिये, अपनेको छिपानेके लिये उन्होंने पागलोंका सा वेष बना रखा था। यद्यपि वे बड़े ज्ञानी थे, महान् वक्ता थे किन्तु कोई उनसे कुछ प्रश्न करता तो आँखें निकाल कर ऊँ-ऊँ करने लगते। मानो, बोलनेकी इनमें सामर्थ्य नहीं, गूँगे हैं। अपनी चर्यासे वे अपने ज्ञानको छिपा कर अज्ञानियोंका सा आचरण करते थे। उन्हे उस कुरुजांगल देशके लोगोंने जान कैसे लिया कि ये ही व्यासात्मज श्रीशुक हैं?

दूसरी बात यह कि परीक्षित् और शुक का यह सम्वाद हो कैसे गया! इतनी बड़ी कथा उन्होंने राजाके पूछने पर कह कैसे दी। आप कह सकते हैं कि राजाको अधिकारी समझकर कह दी होगी। यह तो ठीक है, किन्तु आश्चर्यकी बात तो यह प्रतीत होती है, कि शुकदेवजी सात दिन एक स्थान पर ठहर कैसे गये! हमने तो सुना है कि शुकजी गृहस्थियोंके घरोंमें केवल भिक्षा लेने ही जाते हैं और वहाँ भी वे उतनी ही देर ठहरते हैं, जितनी देरमें एक गौ दुही जा सकती है। सो भी कुछ भिक्षा लाभसे जाते हों यह बात नहीं, उन गृहस्थियों के घरोंको कृतार्थ करने जाते हैं। गृहस्थियोंके घरोंमें रात्रि दिन शोक, मोह व्याप्त रहता है। कोई मर गया, कोई दुखी है, कोई बीमार है, किसी ने बुरी वासनासे पाप कर दिया, भ्रूण हत्या, आत्महत्या, पशुहत्याएँ सब होती ही रहती हैं। इन सब आधि व्याधि और पापोंसे गृहस्थियोंके घर नरकके समान पापालय बन जाते हैं। यदि इन घरोंमें महात्मागण, सिद्धपुरुष, अवधूत, ज्ञानी भिक्षाके बहाने न आवें, तो ये पवित्र कैसे हों, तब तो पृथ्वी नरकके ही समान बन जाय।

उन दीन चित्त वाले गृहस्थियोंपर दया करके ही श्रीशुक उनके द्वारोंपर जाते हैं। वहाँ कोई उनका सत्कार करते हैं, कोई तिरस्कार। वे दोनोंको समान समझते हुए नगर और ग्रामोंको कृतार्थ करते हुए सदा घूमते ही रहते हैं, जैसे नारदजी घूमते रहते हैं। फिर वे सात दिन परीक्षित्‌के पास गङ्गा तट पर कैसे रह गये?

आपने एक यह भी बात कही कि पाँडवोंके पौत्र, अभिमन्यु-सुत महाराज परीक्षित् गङ्गा किनारे आमरण अनशन करके बैठे थे! यह और भी आश्चर्यमें डालनेवाली बात है। वे राजा तो बड़े धर्मात्मा थे, कुलीन थे, वंशानुरूप थे, उन्होंने तो पांडवोंकी कीर्तिको देशव्यापिनी बनाया था। उन्होंने अश्वमेध आदि बड़े-बड़े यज्ञ किये थे, चारों दिशाओंको जीतकर उन्होंने अपने साम्राज्यको और बढ़ाया था। वे अपने पराक्रमसे समस्त नरपतियोंके मुकुटमणि सम्राट् बने थे। उनके चरणोंमें देश विदेशोंके अगणित नृपतिगण आ-आकर अपने मुकुटोंके सहित प्रणाम किया करते थे, कि सम्राट्‌की हमारे ऊपर दया-दृष्टि हो जाय, जिससे हम कल्याणके भाजन बन जायँ।

ऐसा देखा जाता है, कि जो धर्मात्मा राजा होते हैं; उन्हे सब प्रकारके ऐश्वर्यों को भोगनेके अनन्तर वृद्धावस्थामें विराग हो जाता है फिर उन्हें राज्य-पाट, वन्धु-बान्धव, दारा, पुत्र कुछ भी अच्छे नहीं लगते। वे सब कुछ छोड़ छाड़ कर किसी पुण्य प्रदेश या पावन तीर्थमें जाकर तपस्या और व्रतोपवासमें निरत हो जाते हैं, किन्तु महाराज परीक्षित्‌को तो हमने देखा था। उनके राजकालमें ही तो हमने इस दीर्घ सत्रक

दीक्षा ली थी। वे तो अभी सर्वथा युवक ही थे। उन्होंने बहुत दिन राज्य भी नहीं भोगा। वे बड़े पराक्रमी थे। उन्हें कोई पदार्थ भी अप्राप्य नहीं था। शरीर उनका सुन्दर, नीरोग, रूपवान् और दिव्य था। उनकी रानी पतिव्रता, वीरसू, कुलीन और सत्स्वभावकी थी। उनके पुत्र जनमेजयादि सभी सुयोग्य पितृभक्त, सर्वगुणसम्पन्न, शूर और सच्चरित्र हैं। उनका राज्य समुद्रपर्यन्त है, कलियुगके वे शास्ता थे। उनका एक छत्र साम्राज्य था, सर्वत्र अप्रतिहत आज्ञा थी। इन सब दुर्लभ पदार्थोंके मोहको तृणवत् तोड़कर उन्होंने इस सर्वगुणसम्पन्न, सर्वोपयोगी शरीरको क्यों त्याग दिया ?

आप कह सकते हैं, कि हमारा अपना शरीर है। हम इसे रखनेमें या त्यागनेमें स्वतन्त्र हैं। जब तक इच्छा हुई रखा न इच्छा हुई त्याग दिया। इसमें दूसरोंका क्या? यह बात साधारण मनुष्योंके सम्बन्धमें सत्य भले-ही हो, किन्तु जो परोपकारी हैं, जिनके शरीरसे अनेक जीवोंका सदा उपकार होता रहता है, उनका शरीर अपना नहीं है। वह तो सार्वजनिक वस्तु है। उनकी रक्षा करना अपनी सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करना है। उसे वे स्वेच्छासे छोड़नेमें स्वतन्त्र नहीं हैं। जब उनका शरीर अपना है ही नहीं, प्राणि-मात्रका उसपर अधिकार है, तब वे उसे नष्ट कर ही कैसे सकते हैं? वे तो जनताकी धरोहरके वाहक मात्र हैं। सम्राट् तो कल्पवृक्षके समान थे, परम भगवद् भक्त भागवतोंमें शिरोमणि थे, उनके द्वारा पृथ्वीके चराचर जीवोंका उपकार हो रहा था। उन्होंने उपवास करके अनमयमें इस शरीरको क्यों त्याग दिया? उनका जन्म कैसे हुआ, उनके कौन-कौनसे प्रसिद्ध प्रशसनीय कार्य थे, उन्होंने परम महत्वका कार्य

कौन-सा किया ? वे तो ब्राह्मणोंके परम भक्त थे। उन्हें किसी ब्राह्मणने शाप क्यों दिया ? शापकी बात सुनकर उन्होंने क्या किया ? इन सभी बातोंका आप हम सबको यथार्थ उत्तर दीजिये।

आप कहेंगे, कि आपके इतने प्रश्नोंका मैं उत्तर कैसे दे सकता हूँ, मुझमें इतनी विद्या-बुद्धि कहाँ है ? सो, सूतजी ! आपकी विद्या बुद्धिका तो हमें पता है। वेदका तो आपको ऋषियोंने अधिकार नहीं दिया। इसलिए वेदको छोड़कर धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास और भी जो आख्यान हैं, उन सब में आप भली भाँति निष्णात हैं। निस्सन्देह आप उनमें पारगत है। आपमें इतनी योग्यता है, कि हमारे प्रश्नोंका उत्तर दे सकें, इसीलिए हम आपसे पूछ रहे हैं। हमारे समस्त प्रश्नोंका यथाथ उत्तर दीजिये।"

छप्पय

सुत-अभिमन्यु नृपाल उत्तराके सुखदाता।
पाडुवशके बीज, दीन दुखियनिके नाता ॥
चिन्तामणिके सरिस सबनिकी चिन्ता नासत।
कल्पवृक्षकी भाँति सबनिकूँ पोषत पालत ॥
भरत खण्डकी प्रजाको, सुत समान पालन कियो।
न्यायभूत निज देहकूँ, तृण समान च्यों तजि दियो ॥

श्री व्यासदेव

(१४)

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये ।
जातः पराशराद् योगी वासव्यां कलयाहरेः ॥१

(श्री भा० १ स्क० ४ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

लीला अमित अपार पार प्राणी नहिँ पावें ।
विविध रूपतें उतरि अवनिपै अच्युत आवें ॥
सूकर सिंह सरूप मीन कच्छप वपु धारें ।
अश कला अवतार धारि असुरनिकूँ मारें ॥
सत्यवती, मुनि पराशर, द्वापरयुगमें धन्य हैं ।
विष्णु रूप श्रीव्यासजी, जिनके तनय अनन्य हैं ॥

प्रत्येक कार्यमें कारण छिपा रहता है। किसी कारणका कार्य प्रकट होते ही लोग तरह-तरहके वादविवाद करने लगते हैं। कोई तो उसे अकस्मात् बताते हैं, कोई सहसा कहते हैं

---

१ सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इस चतुर्युगीके तीसरे युग द्वापरमें पराशर मुनिके वीर्यसे वासवी, सत्यवती देवीमें भगवान् विष्णुके अशभूत योगिवर्य भगवान् व्यासका जन्म हुआ।

और कोई दैवेच्छा कहकर मनको समझाते हैं। अज्ञानी पुरुष बिना कारण समझे मोहित हो जाते हैं। ज्ञानी सबका कारण समझता है, अतः वह किसी कार्यसे, किसी असंभव कही जाने वाली घटनासे, मोहको प्राप्त नहीं होता। सच पूछा जाय; तो संसारमें सहसा तो कुछ होता ही नहीं।

एक बीज हमने बोया उससे अंकुर हुआ। उसे हम नित्य सींचते हैं, पानी देते हैं। एक दिन सुप्रात उठकर देखते हैं, उसमें फूल आ गया है। हम उसे देखकर आश्चर्य चकित हो जाते हैं। कुछ दिनों के अनन्तर देखते हैं उसमें एक छोटा सा फल भी लग गया है, हम सोचते हैं यह फल रात्रि ही रात्रि में सहसा कहाँ से आ गया? हम अज्ञानवश यह नहीं सोचते कि बीजके साथ ही हमने वृक्ष, फल-फूलके कारणको भी बो दिया था। बीजमें ये सब निहित थे। कारणसे कार्य प्रकट होना ही था।

प्रातः सोकर उठे, शरीरके एक भागमें पीड़ा हुई देखते-देखते उसका फोड़ा बन गया। हम सोचते हैं यह सहसा कहाँसे हो गया? कल तो नहीं था, आज ही हुआ। यह हमारा भ्रम है। वह रोग सूक्ष्म रूपसे हमारे शरीरमें पहिलेसे ही विद्यमान था, अपना समय पाकर प्रकट हुआ। इसीलिए पाप और पुण्यका कारण, शरीर बताया है। पापका परिणाम दुःख और पुण्यका परिणाम सुख होता है। पाप पुण्य बीज हैं, सुख दुःख उसके फल हैं। यह सभीको भोगना पड़ता है। कारणके बिना कार्य होता नहीं। अतः प्रत्येक कार्यका कारण सोचनेसे सभी शंकाएँ दूर हो जाती हैं।

शौनकादिक मुनियोंके पूछने पर सूतजीने व्यासचरित कहना आरम्भ किया। सूतजी बोले—"मुनियो! भगवान्

व्यासदेवका अवतार भगवान् पराशरके वीर्यसे निषादराजकी पालिता कन्या सत्यवतीके गर्भसे कुमारी अवस्थामें द्वापर युगके अन्तमें हुआ।'

इस पर शौनकजीने पूछा—"महाभाग उग्रश्रवा! हम आप भगवान् व्यासके अवतारकी कथा विस्तारसे सुनाइये। महाभाग्यवती सत्यवती निषाद कन्या क्यों कहलाई? उनका नाम वासवी क्यों प्रसिद्ध हुआ? महामुनि ऊर्ध्वरेता पराशर से उनका सङ्गम कैसे और कहाँ हुआ? अवतार प्रसूता सत्यवतीने पूर्व जन्ममें ऐसा कौनसा अपराध किया था, जिससे उन्हें विशुद्ध क्षेत्र, विशुद्ध कुल प्राप्त नहीं हुआ? पहिले आप हमसे भगवान् व्यासजीका यथावत् चरित कहें, पश्चात् भागवती कथा सुनावें।"

मुनियोंके प्रश्नको सुनकर उग्रश्रवा सूत कहने लगे— "मुनियो! यह जीव अपने ही किन्हीं कर्मोंके अनुसार ऊँच-नीच योनियोंमें आता जाता है। प्रारब्धका यही चक्र है। दैवकी यही विडम्बना है, लीलाधारीकी यही लीला है, खिलाड़ीका यही खेल है, मायापतिकी यही माया है। अचिन्त्यनीय भगवान्की चेष्टा समझमें नहीं आती। वे ऐसे कुतूहल पूर्ण जगत्को क्यों बनाते हैं? कोई कहता है यह उनका विनोद है। ऐसा क्या विनोद जो कभी समाप्त ही न हो। जीव एकदम अन्धे होकर उनमें ही लिप्त हो जायँ। यह कर्म-चक्र ही संसारको चला रहा है। ये पाप पुण्य ही अनेक योनियोंमें जीवको भ्रमा रहे हैं। कायिक, वाचिक, मानसिक—तीन तरहके पाप पुण्य होते हैं। उनका परिणाम भी सुख-दुःख रूपमें तीन ही प्रकारका प्रकट होता है। संसार बनता है, बिगड़ता है। एक सृष्टि की उत्पत्ति होती है, उसका

विनाश भी होता है, फिर नई सृष्टि हो जाती है, नई सृष्टि कहाँ से आती है? कुछ पता नहीं चलता। जैसे गंगाजीमें नित्य नया जल रहता है। वृक्षोंमें पतझड़ होनेपर फिर नये पत्ते आ जाते हैं। एक बार पककर फल गिर जाते हैं, दूसरे वर्ष फिर उसमें आ जाते हैं और उन फलोंमें भी अनन्त फल पैदा करनेकी शक्ति होती है। इसी तरह यह सृष्टि-चक्र चल रहा है। यह कभी समाप्त होनेका है नहीं। ज्ञानके द्वारा भगवत् शरणमें सर्वात्मभावसे जानेसे यह अपने आप विलीन हो जाता है।

ऋषियो! यह सृष्टि संकल्पके द्वारा ही बनी है। संकल्पसे ही बढ़ती है और संकल्पसे ही विलीन होती है। देवता, पितर, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्य सभी संकल्पसे उत्पन्न होते हैं। वही संकल्प जब स्थूल रूप धारण करके प्रकट होता है, तो उसे 'काम' कहते हैं। 'काम' संकल्पका ही पुत्र है। पहिले सृष्टि बिना मैथुनके संकल्प मात्रसे ही होती थी। जब परस्पर अङ्ग-संगकी इच्छाका संकल्प उठा, तो कामके वशीभूत होकर प्राणी मैथुनमें प्रवृत्त हुए। इससे उनकी वह शक्ति विलुप्त हो गयी। तबसे सृष्टि मैथुनी होने लगी।

पितृलोकमें बहुतसे नित्य पितर हैं; उन्हीं पितरोंमें से एक अग्निष्वात्ता नामके पितर थे। पितरोंने एक 'अच्छोद' नामक पवित्र सरोवर बनाया। उसी जगह अग्निष्वात्ता पितरकी एक मानसी कन्या उत्पन्न हुई। वह बड़ी ही रूपवती, गुणवती और धर्मपरायणा थी। पितरोंने उसका नाम उस तीर्थके ही नाम पर अच्छोदा रख दिया। अच्छोदाने अपना मन तपस्यामें लगाया संसारमें तप ही सार है, यह सोचकर वह देवताओंके दिव्य वर्षोंसे हजार वर्ष तक तपस्या ही

करती रही। उसकी तपस्यासे प्रसन्न होकर पितृगण उसे वरदान देने उसके समीप आये। वे सभी दिव्य रूप-धारी कामदेवके समान सुन्दर थे। स्वर्गीय दिव्य वस्त्राभूषणोंसे भूषित थे। उनमें एक अमावसु नामके पितर अत्यन्त ही रूपवान् थे। उनके दिव्य रूपको देखकर अच्छोदाके मनमें विकार उत्पन्न हो गया। दिव्य ज्ञान वाले पितरोंने उसका मनोभाव जान लिया। मनमें विकारके उत्पन्न होते ही वह अपने योगसे भ्रष्ट हो गयी। दिव्यलोकसे उसका पतन हुआ किन्तु पृथ्वी पर नहीं आयी, अन्तरिक्षमें ही स्थित रही। अमावसुके मनमें कोई विकार नहीं हुआ। वे धैर्यको धारण किये रहे। उनके धैर्यसे उसके मानसिक सकल्पका सयोग होनेसे एक कृष्णवर्णकी अधकाररूपा कन्या उत्पन्न हो गयी। अमावसु के धैर्यके कारण उत्पन्न होनेसे उसका नाम 'अमावस्या हुआ जो देव पितरोंकी परम प्रीतिकारिणी हुई। इसीलिये अमावस्याके दिन पितरोंके निमित्त किया हुआ श्राद्ध अक्षय होता है। द्विजाति लोग अमावस्याके दिन पितरोंके निमित्त दार्श-यज्ञ करते हैं।

अन्तरिक्षमें स्थित उस अच्छोदा कन्याने अपने कर्मसे लज्जित होकर पितरोंसे अपने उद्धारका उपाय पूछा। इस पर पितरोंने कहा—"देखो, चाहे मानसिक कर्म हो या शारीरिक, उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है। तुम्हारे मनमें विकार उत्पन्न हुआ, वह भी अपने कुलके पुरुषके ही प्रति, अत तुम्हें अट्ठाइसवें द्वापरके अन्तमें पृथ्वीपर जन्म लेना पड़ेगा, सो भी हीनयोनिमें। मत्स्यके उदरसे तेरा जन्म होगा, अकुलीन वशमें तेरा पालन पोषण होगा। इतनेसे ही तेरे पापका प्रायश्चित्त हो जायगा। फिर तेरे गर्भसे भगवान्के

अंशावतार व्यासजीका जन्म होगा।' सो, हे ऋषियो! वही पितरों की कन्या अच्छोदा सत्यवतीके नामसे इस धरा धाम पर उत्पन्न हुई और वासवीके नामसे प्रसिद्ध हुई।"

ऋषियों ने पूछा—"सूतजी! सत्यवतीका नाम वासवी क्यों हुआ? इसका तत्व हमें और समझाइये।"

ऋषियोंके पूछनेपर सूतजी बोले—"मुनियो! आर्य संस्कृतिमें नाम प्रायः सार्थक ही हुआ करते हैं। वे या तो वंश सम्बन्धसे होते हैं या वीर्य, पराक्रम और कर्मोंके द्वारा। सत्यवतीका वासवी नाम भी उसकी कुल परम्परासे सम्बन्ध रखनेवाला ही है।

द्वापर युगमें एक बड़े ही धर्मात्मा, पराक्रमी, पितरोंके पूजक 'वसु' नामके राजा थे। उनकी पत्नी भी बड़ी यशस्विनी धर्मपरायणा तथा पतिव्रता थी! एक दिन वह ऋतु स्नान करके निवृत्त हुई। संतानकी कामनावाली वह रानी अपने पतिको बहुत ही अनुरक्ता थी। राजा भी उन्हें बहुत चाहते थे। उसी दिन दैवयोगसे राजाको पितृकार्य्यसे मेध्यकव्य लानेके निमित्त घोर जंगलमें जाना पड़ा। महाराज कर्तव्यवश वन में चले तो गये; किन्तु उनका मन अपनी प्रियामें ही लगा रहा। अरण्यमें श्रम करते-करते वे थक गये और एक वृक्ष की सघन छायामें अपनी प्रियतमा रानीकी ही चिन्ता करते-करते कुछ निद्रितसे हो गये। उसी अवस्थामें उनका वीर्य-स्खलित हो गया। वे राजर्षि अमोघ वीर्य थे, उनका वीर्य कभी भी व्यर्थ जानेवाला नहीं था। अग्निके समान उस जाज्वल्य-मान शुक्रको राजाने एक दोनामें रख दिया। पासमें ही एक श्येन पक्षी बैठा था। उससे राजाने कहा—"हे पक्षी! तुम

शीघ्र उड़ने वाले हो। मेरा यह अमोघ वीर्य व्यर्थ न जाय वही उपाय तुम करो। इसे शीघ्र ले जाकर मेरी महारानी को दो।'

सिखाये-पढ़ाये पक्षीने राजाकी आज्ञासे उस वीर्यके दोनेको चोंचमें दबाया और वह आकाश मार्गसे उड़कर जाने लगा। ऐसा अवसर देखकर अन्तरिक्षमें स्थित उस अच्छोदाने उस वीर्यमें प्रवेश किया। राजर्षिके विशुद्ध वीर्य में ही ऐसी दिव्य कन्याकी स्थिति हो सकती है। वह पक्षी जब दोनेको लेकर आकाश मार्गसे जा रहा था, तो किसी दूसरे श्येनने उसे मासका टुकड़ा समझकर उससे उसे छीनना चाहा, दोनोंमें परस्पर युद्ध हुआ। इसी युद्धमें वह दोना यमुनाजी में गिर पड़ा। वहाँ एक मछली उसे निगल गयी। राजर्षि का वीर्य तो कहीं भी जाय, वह व्यर्थ होनेवाला नहीं था। मछलीके पेटमें ही एक कन्या बन गयी।

दैवकी गति, होनहारकी बात, वही मछली मल्लाहोंके जालमें फँस गयी। उसका पेट फाड़ा गया। उसमेंसे परम सुन्दरी एक दिव्य कन्या उत्पन्न हुई। मल्लाहोंके राजाने उसे अपनी पुत्री मानकर पाला-पोसा और उसका नाम सत्यवती रखा।

शुक्ल पक्षके चन्द्रमाके समान वह बालिका बढ़ने लगी। अपने पिताकी वह बहुत ही प्यारी थी। पिता उसके सुन्दर स्वरूपको उसके शील-स्वभावको, उसके भोलेपनको देखकर मन ही मन प्रसन्न होता और उसे प्राणोंसे भी अधिक प्यार करता। थोड़ी और बड़ी होने पर वह छोटी नौका खेने लगी। यात्रियोंको यमुनाके इस पारसे उस पार उतारने लगी।

सत्यवती सभीको बड़ी प्रिय थी। सभी उसके सरल सकोची स्वभावसे सन्तुष्ट थे। उसका रूप लावण्य अद्वितीय था, वह मृत्युलोककी कन्या प्रतीत नहीं होती थी। प्रतीत होता था, पुण्य क्षीण होने पर कोई देवलोककी कन्या या विद्याधरी पृथ्वी पर उतर आयी है। वह ज्यों ज्यों बढ़ती थी, त्यों ही त्यों उसका सौन्दर्य और निखरता जाता था।

उसके अनजानमें ही यौवनने उसके शरीरमें प्रवेश किया। पिताको उसके विवाहकी चिन्ता हुई। पिता सोचता था यह क्षत्रिय वीर्यसे उत्पन्न हुई है। ससारमें अद्वितीय रूप लावण्यवती है, यह तो किसी सम्राट्की राजरानी बनने योग्य है। पुत्रीको सुन्दरसे सुन्दर घर वर मिले यही, पिताकी पुत्रीके प्रति एक मात्र कामना रहती है। पिता चिन्तामें मग्न था, किन्तु सत्यवतीको ससारकी ससारी बातोंका कुछ पता ही नहीं था। वह पक्षीकी तरह नौकामें दोनों डाँडोंको इतनी शीघ्रतासे चलाती थी, मानों जलमें कोई पक्षी उड़ा जा रहा हो। यमुनाजीकी धारामें वह नि शक होकर राजहंसिनीके समान तैरती। घाटपर पालतू हरिनीके समान एकाकी इधर-उधर फुदकती फिरती। वह यमुनाके पावन पुलिनोंमें थककर लेट जाती और गुनगुनाती हुई कुछ गाने लगती। निभृत निकुंजोंमें बैठकर वह पक्षियोंके साथ खेलती। उसका अल्हड़ स्वभाव और भी अधिक अल्हड़ हो गया। उसे ऐसा लगने लगा कि उसका मन कुछ अव्यक्त भाषामें कोई नवीन बात कहना चाहता है, किन्तु वह उसके भावको समझनेमें अपनेको असमर्थ पाती। वह फिर खेलने-कूदने लगती। अपनी छोटीसी सुन्दर नौका दो उसके डाँड और यमुनाजी, ये ही उसके मनोरंजन तथा दैनिक-व्यापारके साधन थे। यमुनाजीके इस

पारसे उस पार, यही उसका संसार था यमुना किनारे फूसकी कुटिया, यही उसकी सम्पत्ति थी और बूढ़ा पिता, यही उसका समस्त परिवार था।

ग्रीष्म ऋतु प्रस्थान तो कर गयी थी, किन्तु अभी उसकी प्रखरता शेष थी। यद्यपि वर्षा आ चुकी थी, किन्तु अभी वह बालिका ही थी। भगवान् भुवन भास्कर अपनी तीक्ष्ण किरणावलियोंसे लोकको तप्त करते हुए अस्ताचलकी ओर द्रुतगतिसे प्रस्थान कर रहे थे। मरीचमालीका मुख म्लानसा हो रहा था। क्षीण-तेज पूर्णिमाका चन्द्र बहुत ध्यान देनेपर मटमैला-सा धूलिसे लिपटा हुआ, निष्प्रभ दिखाई देता था। उसी समय घाटपर पराशर मुनि आये। निषादराजने मुनिकी पूजा की यथोचित आदर सत्कार किया। मुनिने शीघ्रतासे कहा—"मैं पार जाऊँगा।"

हाथ जोड़े निषादने कहा—"भगवान् आज यहीं विश्राम करें—कल सुखपूर्वक पार हों। इस समय पार जानेकी वेला नहीं है।"

"नहीं, मैं तो जाऊँगा ही।" ऋषिके वाक्यमें दृढता थी। ऋषिका निश्चय समझ कर वृद्ध निषादने कहा—"बेटी! ऋषिको पार पहुँचा आ।"

अपने पिताकी आज्ञा पाते ही उसने नाव खेनेकी दोनों लोहेकी बघौड़ी उठायीं। उन्हें छिद्रोंमें यथा स्थान लगाया उनमें परके समान दो डाँड लगाये और वह नौकाको किनारेके समीप खींच लाई। तटसे सटाकर काठका जो मच बँधा था, उससे उसने नौकाको सटा दिया। ऋषि उस मचसे उतर कर नौकामें बैठ गये। सत्यवतीने डाँड खेना आरम्भ

कर दिया। यमुनाजीके प्रबल वेगको चीरती हुई वक्र गति से नौका प्रवाहकी ओर ही बहने लगी। सत्यवती जोर लगा

कर उसे प्रवाहके प्रतिकूल खेना चाहती थी बहुत जोर लगा कर शीघ्रतासे डाँड़ोंको खेते-खेते वह दुहरी हो जाती। उसके मुख मंडलपर गहरी अरुणिमा छा जाती। श्रमके कारण

उसके मुख मंडल पर पसीनेके विन्दु छा गये। वे स्वेदके नन्हें-नन्हें कण उसके ललाट और मुखपर ऐसे प्रतीत होते थे मानों खिले हुए कमल पर किसीने मोती बिखेर दिये हों। ऋषि एकटक भावसे उसीकी ओर देखने लगे। उसकी फुर्ती हस्तलाघव और पटुताके कारण मुनि मन ही मन मुग्ध हो रहे थे। उन्होंने कहा—'तुम्हें लोगोंको पार उतारनेमें बड़ा श्रम करना पड़ता है, क्यों ?'

"क्या करें भगवन् ! यही तो हमारा पैतृक धधा ठहरा—" नौका चलाते-चलाते ही सरलताके साथ सत्यवतीने मुनि से कहा।

"इसी तरह इस पारसे उस पार कै वार तुम्हें आना-जाना पड़ता है ?" यह व्यर्थका प्रश्न मुनिने क्यों पूछा, इसे वे ही जानें।

'इसकी कोई गणना नहीं। दस बार, बीस बार, जब भी यात्री आ गये, तभी आना पड़ता है," बिना सोचे ही उसने उत्तर दिया।

मुनि थोड़ी देर चुप रहे। फिर कुछ सोचकर बोले—"श्रम बहुत, परिणाम थोड़ा। यद्यपि तुम लोगोंको पार उतारती हो, किन्तु क्या हुआ ? इस पारकी पृथ्वी परसे ले जाकर उस पार की पृथ्वी पर छोड़ दिया, उस पारवालेको इस पारकी पृथ्वी पर उतार दिया। यह तो कुछ पार होना हुआ नहीं। मैं तुम्हें एक ऐसा पुत्र प्रदान करूँगा जो लोगोंको सदा-सर्वदाके लिये ससार-सागरसे पार उतारता रहे।"

पुत्रका नाम सुनते ही लज्जाके कारण लड़कीका मुख लाल पड़ गया। उसने नौका खेना छोड़ दिया और दोनों हाथों

की अञ्जलि बाँधे हुए उसने भयभीत स्वरमें कहा "प्रभो! दीनबन्धो! आप यह क्या कह रहे हैं! मैं तो कुमारी हूँ, अपने पिताके अधीन हूँ। कुमारीके पुत्र कैसा ?"

ऋषि उसे इस प्रकार भयभीत देखकर सान्त्वना देते हुए बोले—"देखो, तुम घबड़ाओ मत! हमारा वाक्य अमोघ होता है। वह व्यर्थ नहीं होता। हमारे तपके प्रभावसे तुम्हारा कन्याभाव दूषित न होगा। वह ज्योंका त्यों बना रहेगा।"

थर-थर काँपती हुई बालिकाने कहा—"हे सर्वसमर्थ मुने! कन्याभाव न भी दूषित हो, तो लोकापवाद तो होगा ही।"

मुनिने गम्भीरताके स्वरमें कहा—"तुम्हारा पुत्र भगवान् का अंशावतार होगा। उसको पाते ही तुम्हारा सभी लोकापवाद दूर हो जायेगा। तुम यशस्विनी और जगत्‌वन्द्या लोक माता कहलाओगी।"

सत्यवतीके दोनों हाथोंकी अञ्जलि बँधी हुई थी। नौका अपने आप ही प्रवाहमें बहती-बहती यमुनाजीके बीचके एक टापूसे लग गयी। मुनिने उसी द्वीपमें गर्भाधान संस्कार किया। उन महर्षिका प्रभाव अमोघ था। उनकी शक्ति अपरिमित थी। वे सत्य संकल्प थे। उसी क्षण उसी द्वीपमें भगवान् वेदव्यासजीका अवतार हुआ। इनके जन्मके समय आकाशसे देवताओंने पुष्प-वृष्टि की, गन्धर्वोंने नगाड़े बजाये स्वर्गकी अप्सराओंने नृत्य किया और अन्तरिक्षमें विचरण करने वाले सिद्ध, तपस्वी, ऋषि-मुनियोंने साधु साधु, जय—जय शब्द किया।

व्यासजीके शरीरका वर्ण अलसी पुष्पके समान कृष्ण वर्णका था। इसीलिये उनका नाम कृष्ण हुआ। द्वीपमें उत्पन्न

होनेसे वे द्वैपायन कहाये। वेदोंका व्यास करनेसे सब लोग इन्हें 'वेदव्यास' कहते हैं। इस प्रकार वेदव्यास भगवान् कृष्ण द्वैपायनका प्राकट्य हुआ।

उत्पन्न होते ही उन्होंने अपनी मातासे हाथ जोडकर कहा—"माता! मेरी रुचि तपस्यामें है। आपकी आज्ञा हो तो मैं तपस्याके लिये गन्धमादन पर्वत पर चला जाऊँ।"

अपने तेजस्वी, अलोकिक आभा सम्पन्न दिव्य पुत्रके मुखसे ऐसी अद्भुत बात सुनकर माताका हृदय भर आया। उन्होंने उनका मुख चूमा। छातीसे लगाकर प्यार किया और अत्यन्त स्नेह प्रकट करती हुई बोली, तुम्हारे पिताने मुझे पहिले ही बताया था कि तुम किसी माता पिता के मोहबन्धनमें न फँसोगे। यही नहीं, संसारमें फँसे हुए प्राणियोंका तुम उद्धार करोगे। उन्हें भवसागरसे पार उतारोगे। जाओ बेटा! सुखसे जाओ! तुम्हारा कल्याण हो! चूहेका पुत्र बिल ही खोदेगा। तपस्वीका पुत्र तपस्यामें ही मन लगावेगा। मंगलमय श्रीहरि तुम्हारा मंगल करें। वनके देवी-देवता तुम्हारी रक्षा करें। भगवती गंगा तुम्हारी माता के समान रक्षा करें। देवी सरस्वती तुमपर वात्सल्य स्नेह प्रकट करें। तुम्हें मैं मोहबन्धनमें फँसाना नहीं चाहती, किन्तु जाते समय मुझे एक वरदान दे जाओ। मैं जब भी तुम्हें स्मरण करूँ, तभी तुम सब काम छोड़कर मेरे पास चले आना।"

हाथ जोड कर व्यासजी ने कहा—"माँ! मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। आप जब भी जहाँ भी, जिस दशामें

भी मुझे स्मरण करेगी, मैं अपने योगबलसे उसी समय समझ कर तुरन्त आपकी सेवामें उपस्थित हूँगा " इतना कहकर और अपनी जननीकी चरणवन्दना करके भगवान् व्यासदेव गधमादन पर्वतपर भगवान् नर नारायणके सान्निध्यमे सम्याप्रास नामक स्थानमें घोर तपस्या करने चले गये।

इस प्रकार भगवती वासवी सत्यवती देवीको भगवान् व्यासकी जननी होनेका जगत्‌वन्द्य पद प्राप्त हुआ। मछली के गर्भसे उत्पन्न होनेके कारण पहिले इनके अगसे सदा मछलीकी उत्कट गध आती थी। इसलिये इनका नाम मत्स्य-गधा भी था। भगवान् पराशरके प्रतापसे वह गध मिटकर उनके अगमे नवीन कमलोंकी-सी दिव्य सुगध आने लगी वह सुगध एक योजन तक जाती थी इसलिये इनका नाम 'योजन गधा' भी प्रसिद्ध हुआ। पीछे इनका विवाह भीष्म पितामहके पिता महाराज शन्तनुके साथ हुआ, जिनके वीर्यके द्वारा इनके गर्भसे चित्राङ्गद और विचित्र वीर्य इन दो पुत्रोंका जन्म हुआ, जो भरतवशके बढाने वाले हुए।

यही भगवान् व्यासके जन्मकी परम रहस्यमयी कथा है। भगवान् वशिष्ठ ब्रह्माजीके मानस पुत्र थे। वशिष्ठजी के पुत्र शक्ति हुए, शक्तिके पराशर और पराशरके वीर्य से सत्यवतीमें इन भगवान् व्यासका अवतार हुआ। इसीलिये ये पाराशर कहलाये और वाशिष्ठ कहलाये। ये अचतुर्मुख ब्रह्मा हैं। दो भुजावाले साक्षात् विष्णु ही हैं और एक कम तीन नेत्र वाले साक्षात् शकर स्वरूप ही हैं। ये ही सम्पूर्ण ज्ञान

के दाता हैं। समस्त ज्ञान व्यासोच्छिष्ट कहा जाता है। उन अपने गुरुके भी गुरु—परम गुरु—भगवान् व्यासदेवजीके पाद-पद्मोंमें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है, इतना कहते-कहते सूतजीका गला भर आया और वे व्यासजीकी स्मृति करते-करते ध्यानमग्न हो गये।

छप्पय

कमल पंकतें होय, काक विष्ठातें पीपर।
मृगमद मृगकी नाभि मांस मेदाके भीतर॥
मोती उपजै सीप शंख हड्डी ही होवै।
बाघ पादकें चर्म अशुचिता अपनी खोवै॥
गुणी गुणनितें पूज्य हैं, - चेत परीक्षा नहिं करी।
व्यास, विष्णु भगवान् हैं, मातृ-वंश त्रुटि नहिं लही॥

श्रीवेदव्यासजीकी चिन्ता

(१५)

धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः ।
मानिता निर्व्यलीकेन गृहीत चानुशासनम् ॥
तथाऽपि बत मे दैह्योह्यात्मा चैवात्मना विभुः ।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्यसत्तमः ॥१

(श्री भा० १ स्क० ४ अ० २८-३० श्लो०)

छप्पय

बदरीवनमें बसै बसैं तनु व्यास महामुनि ।
नित्य हवनकरि वेद शास्त्रइतिहास पढें पुनि ॥
ऋक्, यजु, साम, अथर्व एकके चारि बनाये ।
चारिहुँ शिष्य बुलाइ, वेद क्रम यथा पढाये ॥
शूद्र नारि व्रतहीन द्विज, हित भारत रचना करी ।
तऊ शान्ति मन नहिं लही, अन्तरातमा नहिं भरी ॥

बाहरसे नेत्र बन्द करनेपर ही भीतरके दर्शन होते हैं। बाह्य विषयोंसे चित्त हटाने पर ही परब्रह्ममें वृत्तिकी एकाग्रता होती है। अपने शरीरकी असुविधाओंको सहकर ही

---

१ भगवान् व्यासदेव अपने मनमें तर्कना कर रहे हैं—"मैंने निष्कपट भावसे समस्त नियमोंका पालन किया है, वेद, गुरुजन

दूसरोंको सुविधा पहुँचायी जा सकती है, श्रीकृष्ण गुणगानसे ही शाश्वती शान्तिकी उपलब्धि होती है। धर्म-कर्मसे यश ऐश्वर्य्य, लक्ष्मीकी ही प्राप्ति होती है, किन्तु भगवान् वासुदेव के पाद पद्मोंमें की हुई भक्ति तो प्राणियोंको कृत-कृत्य कर देती है। फिर मनुष्यके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। फिर उसे निर्वेद करनेका अवसर ही नहीं मिलता। वह तो आनन्द सागरमें मग्न हो जाता है। जप तप यज्ञ, पूजा, पाठ, दान, धर्म तथा और भी समस्त शुभकर्म जो भक्तिसे विहीन हैं, वे सब व्यर्थ हैं। उनका फल लौकिक या दिव्य सुखोंका भोग मात्र ही है।

भक्ति पूर्वक किया हुआ तप अन्त करणको विशुद्ध बना देता है। उसमे भगवान्‌के दर्शन होने लगते हैं। नन्दनन्दन उसमे आकर विराज जाते हें और उनका प्रकाश चारों ओर फैल जाता है। श्रीहरिके हृदयमें उदय होते ही अज्ञान-अन्धकार मिट जाता हे। काम, क्रोध, लोभ, मोह रूपी उलूक उड़ जाते हैं। यही सब सोच-समझकर लोक शिक्षाके निमित्त भगवान् व्यासदेव अपनी जननीसे आज्ञा लेकर गन्धमादन पर्वत पर चले गये। जहाँ पर आकल्पान्त निवास करते हुए भगवान् नर-नारायणका घोर और मृदु तप कर रहे हें।

बदरीवनने जहाँ देवसरिता सरस्वतीका भगवती अलक नन्दाके साथ सगम हुआ है, उसे केशवप्रयाग कहते हैं। उसके उत्तरकी जो भूमि है उसीका नाम "सम्याप्रास" है।

और अग्नियोंकी सम्मान पूर्वक सेवा की है, उनकी आज्ञाओंको माना है, तो भी ब्रह्मतेजसम्पन्नोंमें सर्वश्रेष्ठ मेरा देहाभिमानी आत्मा असन्तुष्ट सा क्यों है, मुझे कुछ खटका क्यों लगा हुआ है?

उसी स्थान पर पर्णकुटी बनाकर भगवान् व्यास तपस्या करने लगे। तपस्या करते-करते उन्हें बहुत दिन व्यतीत हो गये।

एक दिन जब भगवान् भुवन-भास्कर अपनी सुखकर करणोंसे उदित होकर जगतको आलोकित करने लगे, तो उसी समय भगवान् व्यास केशवप्रयाग पर गये। पुण्यतोया सरस्वती अत्यत वेगसे अपनी बहिन अलकनदासे मिल रहीं थीं। दोनोंका ही हृदय द्रवीभूत हो रहा था। दोनोंके ही आँखोंसे मानों अश्रुओंकी झड़ी लग रही हो। दोनोंके प्रेमाश्रुओंके कण उड़-उड़ कर किनारे पर आ रहे थे। व्यासजी ने उन दोनोंके संगमको देखा। क्षितिजमें भगवान् भास्कर खिलखिला कर हँस रहे थे। उनके हास्यके कारण उनकी शुभ्र दन्तावलीसे कमनीय किरणें निकल कर हिमाच्छादित पर्वतोंके शृंगोंको स्पर्श कर रही थीं। इससे उनका हृदय द्रवित होकर वह रहा था। प्रकृति शान्त थी। नीरव स्थान था। पुण्य भूमि थी। शीतके कारण अग सिकुड़ रहा था। इस कारण मरीचिमाली भगवान् दिवाकरकी किरणें अत्यंत ही सुखकर प्रतीत होती थीं। ब्रह्मद्रवके समान अत्यंत सुशीतल सरस्वती जलसे काँपते काँपते मुनिने आचमन किया और वे वहीं ध्यान मग्न होकर बैठ गये। उन्होंने देखा—लोगों की प्रवृत्ति अधर्म की ओर बड़े वेगसे बढ़ रही है। समस्त दिव्य शक्तियोंका ह्रास हो रहा है। लोग बड़े नास्तिक श्रद्धाहीन हो गये हैं। उनका वेद, ब्राह्मण और परलोक का विश्वास ढीला हो रहा है। वे पुरुषार्थसे भी हीन हो गये हैं। पहिले युगोंका बल-पराक्रम अब लोगोंमें नहीं रहा। उनकी बुद्धि मलीन हो गयी है। सभी पापाचरणमें प्रवृत्त हो रहे हैं। बहुतसे अकालमें

ही कालके कवल बन रहे हैं। ये भाग्यहीन, सदाचारहीन होकर दुष्कर्म करने लगे हैं।

आप कहेंगे. 'क्यों जी ! वहाँ और कोई था ही नहीं। संसारी लोगोंका तो वहाँ अभाव था, उस स्थानपर तो सभी धर्माचरण करनेवाले तपस्वी ऋषि ही थे। उस विजनवनमें मुनिने मनुष्योंकी ऐसी दुर्दशा कैसे देखी ?' अजी, उन्होंने बाह्य चक्षुओंसे थोड़े ही देखी। ध्यानमें दिव्य दृष्टिसे उन्होंने यह सब अधर्मलीला देखी। अब तो मुनिका नवनीतके समान कोमल हृदय द्रवीभूत होने लगा। मानों सूर्यकी किरणें उनके 'टटके' माखनके गोलेके समान अन्तःकरणको अपनी उष्णतासे पिघला रही हों। लोगोंका जिसमें हित हो वही बात मुनि सोचने लगे। उसीका ध्यान करने लगे।

क्यों जी, भगवान्‌का ध्यान छोड़कर महामुनि लोकोपकारकी चिन्ता क्यों करने लगे ? भागवान्‌के ध्यानसे प्रसन्न हुए चित्तको लोगोंकी चिन्तासे चिन्तित क्यों बनाने लगे ? क्या उन्होंने अच्युत-अराधना का परित्याग कर दिया ? अजी, छोड़ क्यों दिया, वे तो परमाराधनमें तत्पर हुए। लोगोंके तापसे तापित होना, यही तो अच्युतकी अत्युत्कृष्ट उत्तम आराधना है। परावरब्रह्म प्रभु इसीसे तो प्रसन्न होते हैं। अपने शरीर सुखके लिये तो सभी प्रयास करते हैं। पर दुःख से दुखी होकर उसे दूर करनेकी जो वासना है, वही तो संसार वासनाका मूलोच्छेदन करनेमें समर्थ होती है।

अब महामुनि लोककल्याणकारक कार्यमें प्रवृत्त हुए। पहिले उन्होंने वैदिक यज्ञों के विस्तारके निमित्त असरय ऋचाओंवाले पहाड़के समान महान् एक वेदमें से अत्यन्त

उपयोगी ऋचाएँ छाँट छाँटकर छोटी छोटी चार संहितायें बनायीं, जिससे अल्पसत्व कम बुद्धिवाले ऋषि उन्हे सरलताके साथ धारण कर सकें। उन ऋक्, यजु, साम और अथर्व नामक संहिताओंको अपने पैल, जैमिनी, वैशम्पायन और सुमन्तु नामक चार प्रिय शिष्योंको क्रमसे अध्ययन कराया। इतिहास पुराणोंकी रचना करके उन्हें द्विजेतर अपने शिष्य लोमहर्षण नामक मेरे पिताको पढाया।

फिर भी महामुनिको सन्तोष नही हुआ। उन्होंने सोचा आगे ज्यों ज्यों कलियुग आवेगा, त्यों-त्यों मनुष्योंकी बुद्धि अल्प होती जायगी। वे एक वेदको भी धारण करनेमे समर्थ न होंगे, अत उन्होंने प्रत्येक वेदकी शाखायें बनायीं और विभिन्न गोत्रोंमे बाँट दीं और आज्ञा दे दी कि तुम पढ़ सको तो चारों वेदोंको पढ़ना, नहीं तो अपने वंश परम्परा के एक वेदको तो पढ़ना ही। यदि पूरे वेदको भी पढनेमे समर्थ न हो, तो अपनी शाखाको तो अवश्य ही पढ़ना। इस प्रकार उन मुनियोंके पुत्र-पोत्रोंने, शिष्य-प्राशिष्योंने उन शाखाओंको पढ़कर वेदोंका अध्ययन अध्यापन बनाये रखा, जिन वेदोंके द्वारा वैदिक यज्ञ याग और समस्त संस्कार होते हैं।

अब फिर भगवान् व्यासने सोचा—द्विजातियोंके लिये तो वेदोंका विभाग हो गया। उन्हे तो वेदोंके द्वारा ज्ञान प्राप्त हो जायगा। अपने यज्ञ-यागोंको, सभी संस्कारोंको अक्षुण्ण बनाये रक्खेंगे। किन्तु जिन्हें वेदोंके प्रत्यक्ष पढ़नेका अधिकार नहीं है जैसे स्त्रियाँ हैं, शूद्र हैं, क्या वे ज्ञानसे वंचित ही रहेंगे ? उनके लिये भी तो कोई उपाय होना चाहिये, क्यों कि इनसे इतना शौचाचार हो नहीं सकेगा। सेवाके कार्य

भारसे इनका गुरुकुलवास भी नहीं हो सकता। फिर शास्त्रकी आज्ञा भी नहीं है, तो इन्हें बिना वेदोंके पढ़े ही वैसा ही ज्ञान प्राप्त हो जाय, इसके लिए भी यत्न करना चाहिये। एक बात और भी है। आगे चलके द्विज भी संस्कारहीन हो जायँगे। षोडश संस्कारोंके होनेकी बात कौन कहे, कलियुगके द्विजाति लोग १६ संस्कारोंके नाम भी नहीं जानेंगे। वे संस्कारोंसे हीन, शौच सदाचारसे रहित, सन्ध्या अग्निहोत्रसे शून्य केवल नाम मात्रके द्विज होंगे। वे अपनेको द्विज भर ही कहेंगे, आगे अपनेको द्विज कहनेमें भी लजावेंगे। शूद्र और अन्त्यज तथा म्लेच्छोंके साथ सभी प्रकारका संसर्ग करेंगे। इन सबका भी किसी तरह कल्याण हो— ऐसा उद्योग करना चाहिये। कोई ऐसा ग्रन्थ निर्माण करना चाहिये कि उसमें वेदकी सभी बातें आ जायँ। सम्पूर्ण ज्ञानका संग्रह एक ही स्थान पर हो जाय! पूरा न पढ़ें, जितना भी पढ़ें उतना ही लाभप्रद हो। वह ग्रन्थ आख्यान और कहानियोंमें हो, जिससे सबकी प्रवृत्ति उसमें हो जाय। अनपढ़ नरनारी भी जिसे सुनकर याद करलें और अपने बाल-बच्चोंको सुनावें। इस प्रकार बिना पढ़े ही—सुनकर—उसका सर्वत्र प्रचार हो जाय।"

यही सब सोच समझकर वेदव्यासजीने महाभारतकी रचना की। बहुत बड़ा ग्रन्थ हुआ। तीनों लोकोंमें इसका प्रचार हुआ। करोड़ों श्लोकोंमें यह ग्रन्थ बना। पृथ्वीपर इसके एक लाख श्लोकोंका ही प्रचार हुआ। इस ग्रन्थके कारण सर्वत्र व्यासजीकी प्रशंसा होने लगी। देवता, गन्धर्व सभी महाभारतकी स्तुतिमें पद्य बनाकर व्यास भगवान्‌की बड़ाई करने लगे। व्यासजीकी विशाल बुद्धिकी चारों ओर प्रसिद्धि हो गयी और सब मुनियोंने मिलकर इन्हें धर्मके विषय

में प्रमाणभूत माना। व्यासजी कह दें वही धर्म है। सब शंकाओं का समाधान व्यासजीके वचनसे ही होने लगा। विवादके अवसरों पर इसी बातकी खोज होती थी, कि इसपर व्यासजी का क्या मत है ? इस प्रकार 'महाभारत' की प्रतिष्ठा पचम वेद के समान हुई।

इतना सब होने पर भी व्यासजीके मनको सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने अपनेको कृतकृत्य नहीं समझा। उनके मनमें निर्वेद बना ही रहा। कोई कमी उन्हें खटकती ही रही।

कोई भी शुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष परिश्रम करके किसी कार्यको करता है, तो अन्य पुरुष उसकी प्रशसा करते-करते थकते नहीं, क्योंकि उसका कार्य लोकहितके लिए है। निष्काम परोपकार बुद्धिसे किया हुआ कार्य सबको सुखप्रद होता ही है। किन्तु कर्ताको जिससे सन्तोष न हो, वह औरों के लिए परम लाभप्रद भले ही हो उसे सर्वश्रेष्ठ नहीं कह सकते। बहुतसे मनुष्य अपने आपको ही भुलाना चाहते हैं, वे अन्तःकरणकी उठी हुई सत्य प्रेरणाको भाँति भाँतिकी युक्तियोंसे दबानेकी चेष्ठा करते हैं। मनको तरह-तरहकी तर्कोंके द्वारा सन्तोष कराना चाहते हैं। इस प्रकार वे सत्य से अपनेको दूर हटाते जाते हैं, विवेक बुद्धिको दबाते जाते हैं। प्रत्येक कार्यके शुभाशुभमें सज्जन पुरुषोंका अन्तःकरण ही प्रमाण माना जाता है। अपने आपको जिसमें सन्देह हो वह सशयप्रद कार्य्य है। अपने आपको जिससे सन्तोष हो वह सर्वश्रेष्ठ है। भले बुरेकी परिभाषा मनीषियों ने ऐसी ही बतायी है।

सम्मानित और प्रसिद्ध पुरुष अपनी वेदनाको किसी पर प्रकट नहीं कर सकते। करें तो लोगोंको विश्वास न हो। लोग

तो समझते हैं—ये अपनी श्रेष्ठताके कारण शिष्टाचारसे ऐसा कह रहे हैं, नहीं तो ऐसे सर्वज्ञ महापुरुषोंको भला ,किसी बात में सन्देह कैसे हो सकता है ? साधारण लोग तो हाँ में हाँ मिलाने वाले, मुँह मीठी बात कहने वाले होते हैं। वे हमारी वेदनाको समझ ही नहीं सकते। हाँ, जो अपनेसे बड़े हों और अपने हितैषी हों, उनके सामने अपनी मनोव्यथा प्रकट करनेसे वे हमारे भावको समझ जाते हैं। स्नेहके कारण वे गम्भीरतासे उस पर विचार भी करते हैं और उसके मूलमें जाकर इसका कारण भी सोचते हैं। किन्तु ऐसे वृद्ध हितैषी मर्म को समझने वाले सर्वज्ञ सुलभतासे प्राप्त नहीं होते। जब तक ऐसे संशयच्छेत्ता नहीं मिलते, तब तक हमें अपने मनसे ही ऊहापोह करनी पड़ती है।

अब व्यासजीको यही चिन्ता बनी रहती, मेरेमें कौन सी कमी रह गयी है। वे भगवती सरस्वतीके तट पर विजन वनमें चले जाते और चिरकाल तक एकान्तमें यही सोचते रहते। वे बार-बार विचार करते—मेरी चिन्ताका, मेरी कमीका कारण क्या है ? मनुष्य पाँच ही कारणोंसे अपनेको अकृतार्थ समझता है।

पहिला तो यह है, कि शुद्ध चित्तसे बिना दिखावेके किसी नियमका जिसने पालन न किया हो, क्योंकि नियम पालनसे हृदयमें एक प्रकारकी दृढ़ता आती है और आत्माको सन्तोष होता है।

दूसरा कारण यह है कि विधिवत् वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन न किया हो। शास्त्रोंके अध्ययनसे सभी प्रकारके संशयोंका नाश होकर मनुष्य व्यर्थकी चिन्ताओंसे मुक्त हो जाता है।

तीसरा कारण यह है, कि पढ तो लिये किन्तु गुरुजनोंकी सेवा सुश्रूषा नहीं की। समस्त शास्त्रोंकी सार्थकता पूज्य पुरुषोंकी, गुरुजनोंकी, निष्कपट भावसे सेवा करनेमे ही है। जिसने श्रद्धासे अपने पूज्य पुरुषोंकी सेवा नहीं की वह जीवनभर सुखी नहीं होता। उसके मनमें खटका बना ही रहता है।

चौथा कारण यह है, कि अपने अग्निहोत्र सन्ध्यावन्दन आदि नित्यकर्मोंको जो सावधानीके साथ नहीं करता है। नित्य कर्मोंके करनेसे जीवन एक व्यवस्थामे रहता है, पाप कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं होती, दुष्कर्मोंसे घृणा रहती है और हृदयमे शुभ कर्मोंके प्रति आदरभाव उत्पन्न होता है।

पाँचवाँ कारण यह है, कि जिसने जीवनमे कोई परोपकार न किया हो। परोपकारसे देहात्मबुद्धि दूर होती है। सबके दुःख सुखको समान समझनेकी शक्ति बढती है तथा सब जीवोंमे अनेक रूपसे एक ही आत्मसत्ता व्याप्त हो रही है, इसका भी ज्ञान होता है। समस्त प्राणियोंके रूपमें मेरे इष्टदेव ही क्रीड़ा कर रहे हैं। जनताके रूपमे जनार्दन ही विद्यमान हैं। इस भावनासे किया हुआ परोपकार मुक्तिके मार्गका प्रदर्शक बन जाता है। यही अभिलाषा प्रभुकी सबसे श्रेष्ठ उपासना है।

मैंने इन पाँचों कर्मोंको यथाशक्ति किया है। ब्रह्मचर्यके समस्त नियमोंका मैंने विधिवत् पालन किया है। वेदोंको पढा है, पढ़ाया है, उनका यथामति संक्षिप्त संकलन किया है, चार भागोंमें विभक्त किया है। गुरुजनोंकी भी यथाशक्ति श्रद्धाके सहित सेवा की है। अग्निहोत्र आदि कार्य भी नियमानुसार नित्य करता ही हूँ।

मैंने द्विजातियोंके लिये ही-पक्षपात किया हो सो भी नहीं। स्त्री, शूद्र तथा अन्य सभीके लिये मैंने महाभारतकी भी रचना की है, जिसमें ऐसा कोई ज्ञान, ऐसी कोई बात नहीं छोड़ी जो वहाँ न हो। एक उसी ग्रन्थमें समस्त वेदोंका, समस्त शास्त्रों-का सार तत्व भर दिया है। इतना सब करनेपर भी मेरा देहा-भिमानी जीव कुछ मनमें असन्तुष्ट-सा है। यह भी बात नहीं कि मुझे ब्रह्मज्ञान न हो, मैं समस्त ब्रह्मतेजसे सम्पन्न भी हूँ। इसका कुछ कारण मेरी समझमें नहीं आता। मनुष्योंके करने योग्य सभी काम मैंने किये हैं। वर्णाश्रम धर्मका स्वय भी विधिवत् पालन किया है और संक्षेप और विस्तारके साथ सबके धर्मोंका भी वर्णन किया है। ब्राह्मणसे लेकर चांडाल पर्यन्त सभीके लिये मैंने कुछ न कुछ किया है। सभीके कर्तव्यका कथन किया है। कौनसी बात मुझसे रह गयी, जिसके कारण मेरे मनमें खटका बना हुआ है। जैसे दाँतोंमें कोई भी वस्तु अटकी रह जाय, तो जिह्वा बार-बार उसीकी ओर जाती है, उसीको कुरेदती है, वैसाही मेरा भी मन किसी अटकी हुई बातको कुरेद रहा है। जब तक वह न निकलेगी मेरे मनमें शाश्वती शान्ति न होगी।

एक सन्देह मुझे हो रहा है। यह जो कर्मोंका आग्रह है, गृहस्थ धर्मकी अत्यधिक प्रशंसा है, पुत्र प्राप्तिआदिका जो अत्यन्त आग्रह है, ये बातें प्रायः विरक्त भगवत् भक्त परमहंसों को विशेष रुचिकर नहीं। उन्हें तो एकमात्र भक्त और भगवत् चरित्र ही अत्यन्त प्रिय हैं। भागवतोंके धर्म ही उनके जीवना-धार हैं, क्योंकि वे भगवान्‌के प्रिय हैं। और भगवान्‌को भी अपनी चर्चा प्यारी लगती है। "अपनी स्तुति किसे प्रिय नहीं लगती ?"

मुझे ऐसा लगता है—उनसे परमहंसोंकी सन्तुष्टि नहीं हुई। यद्यपि मैंने भगवत् चरित्रोंका भी वर्णन महाभारतमें किया है। पुराणोंमें भागवत-धर्मका भी निरूपण किया है, किन्तु कुछ त्रुटि अवश्य रह गयी, नहीं तो मेरा मन बार-बार मुझे इस तरह टोंचता नहीं।

इसी सोच विचारमें व्यासजी बैठे रहे, अपनी चिन्ताका कारण निश्चित न कर सके।

छप्पय

पाराशर्य प्रवीण परम चिन्तित ह्वै सोचत।
विधिवत् पढ़िकें वेद लगायो श्रीहरिमहँ चित ॥
गुरुसुश्रूषा करी अगिन अव्यग्र अराधी।
करी तपस्या उग्र ग्रीष्म पचानल साधी ॥
वेद व्यास इतिहास रचि, पुण्य पुराण कथा कही।
चिन्ता चितर्तें नहि गई, कछुक खटक खटकति रही ॥

———

व्यासाश्रमपर श्रीनारदजी

(१६)

तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः ।
कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहृतम् ॥ १

(श्री भा० १ स्क० ४ अ० ३२ श्लो०)

छप्पय

बदरीवनके निकट विराजें मुनिवर ज्ञानी।
वेद व्यास इतिहास रचे पुनि शान्ति न मानी॥
चिन्ता चितमें चुभी म्लानता मुखपै आई।
रही कौन-सी कमी आतमा अति अकुलाई॥
इतनेमें वीणा लिये, राम कृष्ण गुण गावते।
नारद देखे आवते, प्रेम वारि बरसावते॥

मनुष्य जब अपनी व्यथाका कारण बाहर खोजता है, तो बाहर तो इन्द्रियोंके विषय ही हैं, जिनका परिणाम विष के समान प्राणान्तक ही है। जो लोग अपनी चिन्ताको अपने भीतर ही विचारते हैं, जो बाहरसे दृष्टि हटाकर अन्तरात्मा

---

१ इस प्रकार भगवान् व्यासदेव अपने आपको हेय मानकर खेद कर ही रहे थे, कि उनके पूर्वोक्त आश्रमपर भगवान् नारदजी आ पहुँचे।

से पूछते हैं, तो उसी समय समस्त प्राणियोंके मनकी जानने वाले, मनके अधिष्ठातृदेव नारदजी आकर उनकी समस्त शंकाओंका समाधान कर देते हैं।

व्यासजी सरस्वतीके किनारे बेलाओंकी कुञ्जसे आवृत्त अपने स्थानमें चिन्तामग्न बैठे थे। शिष्योंने प्रातःकालीन अग्निहोत्र समिधाधान विधिवत् सम्पन्न किया था। आश्रमकी गाएँ दुहकर वनमें चरनेको छोड़ दी गयीं थीं। शिष्यगण सस्वर ब्रह्मघोष कर रहे थे, किन्तु व्यासजीके मनमें वही एक चिन्ता लगी हुई थी। सहसा क्या देखते हैं, कि उनके कानोंमें तन्त्रीकी सुमधुर झङ्कार सुनायी दी। साथही प्राणोंको प्रसन्नता प्रदान करनेवाले श्रीहरिके सुमधुर नामोंका संकीर्तन भी सुनायी दिया। दृष्टि उठाकर देखते हैं तो सामने मुस्कराते हुए भगवान् नारदजी खड़े हैं। मानों ये नूतन जलधर मेघके समान इन्द्रधनुष और विद्युत्‌के सहित आकाशसे प्रेम-वारि बरसाये हुए व्यासजीपर कृपा करनेको साकार शरीरसे उतर आये हों। अपने सामने देवर्षि नारदजीको स्वरब्रह्ममयी वीणा-को बजाते देखकर व्यासजी बड़ी शीघ्रतासे संभ्रमके साथ सहसा उठ खड़े हुए। उन्होंने श्रद्धा सहित देवर्षिका स्वागत किया। सुन्दर सुखप्रद आसनपर उन्हें बिठाया। शिष्योंसे शीघ्र ही अर्घ्यका सामान लानेको कहा। सुगंधित गरम जलसे देवर्षिके पाद-प्रक्षालन किए। दूध, दही, शहद, अक्षत, सफेद तिल, कुश, दूर्वा, पुष्प, चन्दन-मिश्रित जलसे उन्होंने भक्ति सहित अर्घ्य दिया। सरस्वती-जलसे आचमन कराया। मन्त्र स्नान करके उन्होंने बल्कल वस्त्र, अपने हाथका बना यज्ञो-पवीत अर्पण किया। अङ्गोंमें सुगंधित चन्दन लगाया। बदरी वनमें ही उत्पन्न होनेवाली सुगंधित धूप जलाकर सामने

रखी। घृतका दीपक दिखाया, अच्छे सुन्दर सुस्वादु कंदमूल फल ऋषिके आगे भेंट किये, आरतीकी और दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर पुष्पांजलि ऋषिके चरणोंमें अर्पण की। नाना स्तोत्रोंसे उनकी स्तुति की। व्यासजीकी की हुई शास्त्रोक्त पूजाको नारदजीने शास्त्रविधिसे ही स्वीकार किया। पूजा के अनन्तर परस्परमें कुशल प्रश्न हुआ। नारदजीने व्यासजी के आश्रमके वृक्षोंकी, शिष्योंकी, गौओंकी, अग्निकी, समीपस्थ मुनियोंकी उनके शरीरकी कुशल पूछी। उत्तरमें भगवान् व्यासने सबकी कुशल बतायी और मुनिसे इस प्रकार नम्रता के साथ कहने लगे—"प्रभो! आज आपने अपने देव-दुर्लभ दर्शनोंसे मुझे कृतार्थ बना दिया। आज मैं धन्य हुआ, मेरी तपस्या सफल हुई, मेरा वेदाध्ययन, गुरुओं और अग्निकी सेवा सार्थक हुई, जो भगवान्ने स्वयं कृपा करके इस आश्रमको अपनी पदधूलिसे पावन बना दिया। दीनबन्धो! मैं अब यह जानना चाहता हूँ, कि इस समय भगवान्का शुभागमन कहाँ-से हुआ है?"

नारदजीने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"हे मुनि श्रेष्ठ! मैं ब्रह्मलोकसे इन्द्रलोक होता हुआ, वरुण लोकमें गया था। वहाँसे श्वेतद्वीप चला गया। वहींसे मेरी इच्छा श्रीनर-नारायणके दर्शनोंकी हुई, इसीलिये बदरीशके दर्शन करता हुआ मैं तुम्हें देखने यहाँ चला आया। मैं जिस लोकमें भी गया, सर्वत्र तुम्हारी प्रशंसा सुनी। ब्रह्माजी कह रहे थे, कि व्यासजीने महाभारतकी रचना करके एक अद्भुत कार्य किया है। देवलोकमें भी तुम्हारे महाभारतकी ही चर्चा थी। गन्धर्व और विद्याधरोंके तो छोटे-छोटे बच्चोंने भी उसकी कथायें रट ली हैं। इस प्रकार तुम्हारी कृतिका सर्वत्र आदर

देखकर मेरे रोम-रोम खिल उठे। मैं तुम्हें बधाई देनेको ही आया था, किन्तु यहाँ आकर दूसरी ही बात देख रहा हूँ! मुझे प्रतीत होता है तुम्हारा मन स्वस्थ नहीं है। चित्तमें कोई चिन्ता व्याप्त है अन्तरात्मा किसी कमीका अनुभव कर रही है। मुख तो मानसिक विचारोंका दर्पण है। मनमें जैसे विचार उठेंगे, वैसे ही भाव मुखपर व्याप्त हो जायँगे। मैं देख रहा हूँ, तुम्हारा मुख म्लान हो रहा है, चित्तमें चंचलता प्रतीत हो रही है। इसका क्या कारण है? इसे तुम मुझे बताओ।"

व्यासजीने कहा—"भगवान् जो कह रहे हैं, सत्य ही है। इसका कारण स्वयं मुझे पता नहीं।"

नारदजी ने कहा—"देखो, मनुष्य अपनेको अकृतार्थ दो ही कारणोंसे समझता है, या तो वह अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाय या उसके द्वारा कोई परोपकारका कार्य न हो सका हो। तुम्हारे सम्बन्धमें ये दोनों ही बातें नहीं हैं। तुम अपने कर्तव्य कर्मोंका यथावत् पालन करते हो। परोपकार करना तो आपके जीवनका व्रत ही है। आपने वेदोंका व्यास किया, पुराणोंकी रचना की और वेदोंके ही समान पचम वेद महाभारतकी रचना की। उसका सभीने आदर किया, सभी ने प्रशसा की। आपकी कीर्ति ब्रह्मांडमें व्याप्त हो रही है। उसे बनाकर भी आप इतने चिंतित क्यों हो रहे हैं? आप अपने मनकी बात मुझसे कहे, आप जैसे ज्ञानी पुरुषोंको ऐसी चिन्ता शोभा नहीं देती। आप तो ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मतत्वके वक्ता और व्याख्याता हैं। आपके द्वारा दूसरोंकी चिन्तायें दूर होती हैं।"

व्यासजीने दोनों हाथ जोड़ कर सिर झुकाते हुए बड़ी नम्रतासे कहा—"भगवन्! आपने जो कहा है, सब सत्य ही है। मैंने यथाशक्ति अपने समस्त कर्तव्योंका पालन किया है। समस्त शक्ति लगाके सभी वर्ण सभी आश्रमोंका अत्यन्त हित हो, इस बुद्धिसे मैंने महाभारतकी रचनाकी। मैंने सोचा इसे रच कर मेरी सभी जिज्ञासाये जाती रहेगीं। मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। किन्तु प्रभो! आपसे क्या छिपाना? महाभारतको रच कर भी मुझे शान्ति नहीं मिली। मनमें एक खटक बनी ही रही। किसी कमीका अनुभव मैं अब भी कर रहा हूँ। मन बार-बार कहता है, 'अभी कुछ शेप है, कुछ तुमसे छूट गया है।' सो, प्रभो! आपही बतावे, मुझसे क्या छूट गया है? किस कारण मेरा मन प्रसन्नता प्राप्त नहीं कर रहा है?"

व्यासजीकी बात सुनकर नारदजी हँसे, उठकर उन्होंने व्यासजीको गले लगाया और बड़े ही स्नेहके साथ कहने लगे—'व्यासजी! तुम धन्य हो। सचमुच आप भगवान्‌के अवतार हो। यह बात तुम्हारे ही अनुरूप है। साधारण लोग तो अपने अत करणकी वाणीको दबानेकी चेप्टा करते हैं। जहाँ लोगोंने उनकी तनिक-सी प्रशसाकी कि वे अपने आप को भूल जाते हैं। अपनेको सर्वश्रेप्ठ समझने लगते हैं। इसी भावसे उनकी उन्नति रुक जाती है, फिर वे आगे बढ नहीं सकते। जो अपने अन्त करणकी वाणीको बार-बार सुनकर उस कमीको पूरा करनेका प्रयत्न करते हैं संसारमें वे ही महापुरुष और प्रात स्मरणीय होते हैं। आप उन्हींमें से हैं। आप की कमीका मुझे पता है।"

हाथ जोड़े हुए व्यासजीने कहा—"महाराज जी! आप से भला क्या छिपा है? किसीके मनकी बातको जान लेना

तो साधारण सी बात है। आप तो समस्त गुह्यसे गुह्य विषयों का भी ज्ञान रखते हैं। गूँगेकी भाषाको या तो गूँगे ही समझते हैं या उसके समीपके रहने वाले ही समझ पाते हैं। उन परात्पर प्रभुकी भाषा मौन है उसके द्वारा ही वे सब प्रकट करते हैं और मननशील मौनी मुनि ही उनकी बातें समझते हैं। वैखरी वाणी बोलनेवाले व्यक्ति उन विश्वेश्वरकी बात भला कैसे समझ सकते हैं? आपने उन पुरुषोत्तम परमात्माकी उपासना की है, सेवा की है, जिनके लिये भूत, भविष्य, वर्तमान कुछ भी नहीं हैं जो कालोंके भी कलयता हैं। सृष्टि, स्थिति, प्रलय उनके नित्यके विनोद हैं। उनकी भक्ति पूजा करनेवालेको कौन-सी बात दुर्ज्ञेय हो सकती है।

मेरी जैसी स्थिति है, आपके सम्मुख है। आपसे कुछ दुराव तो है नहीं। दुराव करें भी तो आपसे हो नहीं सकता क्योंकि आप तो प्राणवायुके समान सभीके भीतर बाहर समान रूप से विराजते हैं। सभीके अन्त करणकी बात जानते हैं। आपकी लोकोंमें समान गति है। वैकुठसे लेकर रसातल तक सभीमे आप स्वेच्छासे विचरते रहते हैं। सूर्यके समान, अग्नि वायु, जल आदि पञ्चभूतोंके समान ब्रह्माडमे सर्वत्र आपकी अव्याहत गति है। हे भगवन्! आप मेरे इस काँटे को निकाल दीजिये। आप कृपा करके बता दें कि मुझमें कौन सी त्रुटि है? आपने शिष्टाचारके नाते मेरी बडी प्रशसा की है, कि तुम योग समाधिके द्वारा परब्रह्मका ज्ञान रखते हो? स्वाध्याय, व्रत, नियम अग्नि और गुरु सुश्रूषा द्वारा शब्द ब्रह्मका भी मर्म जानते हो। यह सब सत्य होने पर भी मनमें शान्ति नहीं हैं। वह आपके उपदेशसे ही प्राप्त हो सकती है। सो, हे सर्वज्ञ! जिस कार्यसे मुझे शान्ति मिले उसे बता-

थे। जिस मार्गसे जानेपर मुझे परमानन्दकी प्राप्ति हो उसका उपदेश मुझे कीजिये क्योंकि संसारमें मुँह मीठी बात कहनेवाले, प्रशंसा करनेवाले तो बहुत होते हैं। हितकारक, सत्य और सुखप्रद उपदेश कोई अपने अत्यंत हितैषी ही करते हैं। आपसे बढ़कर मेरा हितैषी संसारमें कौन होगा ?"

नारदजी व्यासजीकी विवेचनासे बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"अच्छा, व्यासजी! आपने इतने प्रेमसे पूछा ही है, तो मैं आपके सम्मुख कहता हूँ, सुनिये।"

नारदजीको प्रसन्नता पूर्वक उत्तर देते देखकर भगवान् व्यासदेवके मनमें अत्यंत ही प्रसन्नता हुई। वे बड़ी श्रद्धा भक्तिके साथ एकाग्र मनसे नारदजीके मुखसे निसृत उपदेश रूपी अमृतका अत्यंत पिपासुकी भाँति बड़ी उत्सुकताके साथ पान करने लगे।

सूतजी बोले—"हे ऋषियो! भगवान् नारदजी ने जो उपदेश व्यासजीको किया, जो उनकी त्रुटि बताई' उसे मैं आपके सम्मुख निवेदन करूँगा। यही भगवत् भक्तों का सार सिद्धान्त है। जो इस लोक, स्वर्गादि परलोक के सभी इन्द्रिय-जन्य सुखोंकी इच्छा त्याग कर, यहाँ तक कि इन्द्रपद, ब्रह्म-पद और मोक्ष तक की लालसा नहीं रखते। उनके ही लिये यह उपदेश हितकारक होगा। जिनकी लौकिक वैदिक कर्मोंमें ही प्रवृत्ति है, जो इस लोकमें कर्म करके स्वर्ग जाना चाहते हैं और स्वर्गसे भ्रष्ट होकर पुन. शुभकर्मोंमें ही प्रवृत्त होना चाहते हैं, उनको तो यह उपदेश रुचेगा ही नहीं। फिर जो वेद और परलोकको मानते ही नहीं, इस शरीरको ही सब कुछ

समझते हैं उनको तो रुचिकर होगा ही कैसे ? आप सब भगवद् भक्त हैं, श्रीकृष्णमें चित्त लगाये बैठे हैं, अतः मैं आपसे नारदजी- के उस दिव्य उपदेशको कहूँगा।

छप्पय

नारदजीने कह्यो—व्यास ! तुम सब गुण आगर।
वेद-पुराण प्रवीण सबहिँ शास्त्रनिके सागर ॥
ब्रह्मज्ञानी आप अज्ञवत् क्यों पछतावें।
का कारण है कहो ! भेद क्यों नहीं बतावें ॥
बोले व्यास विनीतह्वै—मुनि ! मन मैल मिटाइ दे।
काज कौन कीयो नहीं, सचो बात बताइ दें ॥

— — —

व्यासजीकी व्याकुलताका कारण

[१७]

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा—
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥ १

(श्री भा० १ स्क० ५ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

बोले नारद—"सबहिँ आपने धर्म बताये ।
किन्तु कृष्णके ललित चरित अति विषद् न गाये ॥
भक्तिभावतें हीन कुकवि जो कविता करिहैं ।
काकतीर्थ सम समुझि हंस मुनि नाहिँ आदरिहैं ॥
अब सब तजि मुनि ! भक्तिको, प्रेम प्रवाह बहाइदें ।
भक्तिभाव दर्शायदें, भगवतचरित सुनाइदें ॥

सूतजी बोले—"मुनियो ! रहस्यकी बातें एकान्तमें ही होती हैं। जब प्रेमसे प्लावित, स्नेहसे आर्द्र दो हृदय एकान्त में सटते हैं, तो प्रेमका स्रोत उमड़ने लगता है। जगत्‌को

---

१ मनुष्योंके तप, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, सत्कथन, ज्ञान और दान आदि समस्त शुभकर्मों का एक मात्र अक्षय फल बुद्धिमान् पुरुषों

पावन करनेवाली स्नेहकी धारा बहने लगती है, जो धराधाम-पर आकर पापी प्राणियोंको भी पुण्य प्रदान करती है। सुख शान्तिकी दातृ होती है। जब भगवान् व्यास और देवर्षि दोनों ही पुण्यतोया सरस्वतीके तटपर विशालापुरीमें नरपर्वतके पार्श्वमें बैठकर प्रेमकी जो चर्चा कर रहे थे, उसीसे त्रैलोक्य पावनी श्रीगंगाजीकी यह दूसरी धारा श्रीमद्भागवत रूपिणी निकली। इस धारामें एक विशेषता है, श्रीगंगाजी तो सर्वदा सबको सब स्थानोंमें दुर्लभ हैं, किन्तु यह कृष्ण-कथा रूपी गंगा सभी कालमें सर्वत्र सुलभ है, यदि उसका हृदय अनुरागसे आर्द्र हो तो।

नारदजीने कहा— व्यासजी! आपने जो भी कुछ किया सब उचित ही किया। इन संसारी लोगोंको अधर्मसे हटाकर धर्ममें लगानेकी शिक्षा दी। भाँति-भाँतिके कथा उपाख्यानों द्वारा धर्मका मार्ग समझाया, किन्तु आपने भगवद् यशका वर्णन नहीं किया। यह तो ऐसा हुआ कि पेड़को वर्षों बड़ी श्रद्धासे, श्रमसे, सींचा। फलके समय उसमें केवल रुई ही रुई निकली। जिस ज्ञानसे भगवान् वासुदेव प्रसन्न न हों, उस ज्ञान-को मैं व्यर्थ—अत्यन्त तुच्छ—ही समझता हूँ।"

व्यासजी बोले—'भगवन्! मैंने महाभारतमें, अन्य पुराणों में भगवद् गुणोंका, अवतारचरित्रोंका वर्णन किया तो है।"

इसपर बड़े स्नेहसे नारदजी बोले—"देखिये, मैं यह नहीं कहता हूँ कि आपने भगवान्‌का यश यत्किंचित् भी वर्णन नहीं किया। हाँ, आपने वर्णन किया है, किन्तु यह बात तो

न इतना ही बताया है, कि इन सबके द्वारा भगवान् उत्तमश्लोकके गुण वर्णनोंमें रुचि उत्पन्न हो।

व्यासजी ! आपको माननी ही पड़ेगी कि जिस प्रकार आपने इन सकाम कर्मोंकी विशद व्याख्या का है, इनके करनेपर जितना बल दिया है, उतना बल भगवद् लीलाओंपर नहीं दिया। आप ही सोचिये, भगवत् भक्तिके बिना ये धर्म-कर्म किस कामके हैं।"

व्यासजीने कहा—"मुनिवर ! कवितामें सभीकी रुचि रखनी पड़ती है।"

नारदजीने कहा—"मैं उस कविताको कविता कहता ही नहीं, जिसमें उपमा अलंकार तो बहुत हों, यमक अनुप्रासोंकी भी कमी न हो, पद विन्यासावली भली भाँति सजाई गयी हो, परन्तु परम पावन प्रभुका पावन यश जिसमें वर्णन न किया गया हो। वाणीकी सार्थकता केवल भगवान्‌के नाम और गुणोंके गानमें ही है। जिसमें कमनीय कमल न हो, अमृतके समान स्वच्छ स्वादिष्ट, सुमधुर पय न हो, शुभ्र विमल मनोहर मोती न हों, उस सरोवरमें हंस नहीं ठहरते। उस कीचड़वाले गड्ढेमें तो जल-काकोंका ही निवास रहता है। भगवद् भक्त हंसोंके समान ही गुणग्राही निर्मल और सबको आनन्द देनेवाले कहे गये हैं।

व्यासजीने कहा—"प्रभो ! यदि लोकरंजनकी सामग्री न हो, तो उस कविताका तो लोग आदर ही न करेंगे।"

नारदजीने कहा—"कविताके सम्पूर्ण गुण चाहे उसमें न भी हों, किन्तु भगवान्‌का यश जिस कवितामें है; भगवद् भक्तिसे यदि वह युक्त है तो साधुजन तो व्यासजी ! उसीका आदर करेंगे। विषयीजीवोंकी बात तो मैं कहता नहीं। औरकी तो बात क्या, भक्ति रहित मोक्षका साधन यह ज्ञान भी शोभा

नहीं देता। जो कर्म केवल कामनाके लिये ही किये गये हैं, जिनके करने का एक मात्र कारण इस लोक और परलोकके दिव्य सुखोंकी प्राप्ति कराना ही है, वे विना प्रभुप्रीत्यर्थ किये हुए कर्म कैसे शोभा दे सकते हैं ? इसलिये आप हे बुद्धिमान् व्यासजी ! मनको हरने वाली, सबको सुख देने वाली, जगत्को पावन बनाने वाली कृष्णकी कमनीय कथाओंका सङ्कलन कीजिये। उन्हींका वर्णन कीजिये।"

व्यासजी ने कहा—"महाराज ! मैं कैसे वर्णन करूँ ? आप मुझे बताते जायँ, तो मैं लिखता जाऊँ।"

इतना सुनते ही नारदजी खिलखिला कर अट्टहास करने लगे और हँसते हुए बोले "महाभाग ! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं ? आपसे कुछ छिपा है क्या ? यह आप साधारण मनुष्योंकी सी लीला क्यों दिखा रहे हैं ? आप अपनी समाधि के द्वारा सब कुछ समझ सकते हैं। एकाग्रचित्त होकर ध्यानमें भगवान्की लीलाओंका प्रत्यक्ष करें। प्रत्यक्ष करनेके अनन्तर समाधि भाषामें उसका वर्णन करें। आपके लिये कुछ कठिन थोड़े ही है ? आप यही करें कि केवल विशुद्ध भगवत् लीलाओंका, भगवान् और भक्तोंके चारु चरित्रोंका ही वर्णन करें। अन्य वस्तुओंका वर्णन करनेसे ध्वजाके समान चित्त चचल हो जाता है। भँवरमें पड़ी नौकासे समान बुद्धि डगमगाने लगती है। प्रवाहमें डूबतेके समान मन व्याकुलताका अनुभव करता है।"

व्यासजी ने कहा—'महाभारतमें तो मैंने कुछ भी नहीं छोड़ा है। उसमें धर्म; अर्थ, काम, मोक्ष, प्रेम, भक्ति सभी विषयों का मैंने विवेचन किया है।"

नारदजी मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए बोले—'व्यासजी! मैं आपके महाभारतकी सराहना करता हूँ। आपका परिश्रम अत्यन्त श्लाघनीय है। यह भी मैं मानता हूँ, उसने आपने सभी कुछ भर दिया है। किन्तु हे महाभाग! आप मेरी बात मानिये, उससे सबका कल्याण कठिन है। महाभारत तो ऐसा है, जैसे कोई बड़ा भारी दुर्ग हो, कोई दृढ़ किला हो। उसमें आपने अनेक प्रकारके भवनोंकी, सरोवरोंकी, सड़कोंकी फलदार वृक्षोंकी, भाँति-भाँतिके परिचारक और परिचारिकाओं की रचनाकी है। उन फलोंके बीच-बीचमें कहीं अमृत फल वाले भी वृक्ष लगा दिये हैं। किसी-किसी भवनके किसी कोने की कोठरीमें कहीं कुछ अमृत फल भी छिपाकर रख दिये हैं। कोई वहींका भेदी बुद्धिमान पुरुष बड़े श्रमसे खोज करे तभी कहीं उन अमृतकल्प फलोंको पा सकता है। रात्रि दिन सभीमें विचरण करने वाले माली या सेवक ही उन कल्पपादपोंका पता पा सकते हैं, सर्वसाधारण उन्हें जाननेमें असमर्थ ही रहेंगे। मैं तो चाहता हूँ, कि आप एक ऐसे दिव्य रस वाले फलकी रचना करें, जिसे देखते ही सब समझ जायँ, जिसके सेवन मात्रसे ही सब सुखी हो जायँ, जिसे खोजनेके लिए श्रम न करना पड़े। यही नहीं, उस फलमें ऊपरका छिलका और भीतरकी गुठली कुछ भी त्यागने योग्य न हो। सब खाने योग्य मधुर रसका एक पिंड ही हो। वह पिंड भी कड़े रसका न हो कि काटनेमें दाँतोंको कष्ट हो। मिश्रीके ढेलेकी तरह न हो कि बहुत देर तक मुँहमें चूसो या दाँतोंसे चोड़ों तब रस निकले। वह फल ऐसा हो कि भीतर भी रस भरा हो, बाहर भी चू रहा हो, गुलाबजामुनकी तरह, रसगुल्लेकी तरह हो। अथवा पहाड़ी शहदके गोलेकी तरह

हो, या गरमागरम टटकी जलेबीकी भाँति हो, या तत्काल निकाले मक्खनके गोलेमें पिसी मिश्री मिले हुए लौंदेके समान हो, या बराबरके बूरे और घीसे मिले मलीदेके लड्डूकी तरह हो।

महाभारतमें आपने काम्यकर्मों की आवश्यकताके अधिक प्रशंसा कर डाली है। अमुक ऋषि थे, उन्होंने विवाह नहीं किया इसीसे वे स्वर्ग नहीं जा सके। फिर उन्हें चिन्ता हुई—कैसे मैं विवाह करके शीघ्र संतान उत्पन्न करूँ? बिना संतान के स्वर्ग नहीं, उद्धार नहीं। इसलिये शीघ्र संतानकी कामनासे पक्षी बनकर पुत्र पैदा किये। अमुक ऋषिके पितर बिना संतानके नरक जा रहे थे, अत: तपस्या छोड़कर उन्हें विवाह करना पड़ा। ऐसी ही अनेक कथाओंकी उसमें भरमार है। यद्यपि ये सब ठीक हैं। संसारमें इनका भी प्रयोजन है, किन्तु कर्मों में तो प्राणियोंकी स्वतः ही प्रवृत्ति है। विवाह करनेकी, संतान उत्पन्न करनेकी तो स्त्री-पुरुषों में स्वाभाविक ही इच्छा होती है। बिना सिखाये ही इन कर्मोंमें अपने आप प्रवृत्त हो जाते हैं। हाँ, इतना ही है कि धर्मके द्वारा उनकी स्वेच्छानुवृत्तिको सीमित बनाया जाता है। किन्तु स्थान स्थानपर विशद रूपसे इन्हीं बातोंकी चर्चा होनेसे लोग समझते हैं, कि संसारमें काम ही सार है। संतानोत्पत्ति ही परम पुरुषार्थ है। स्थान स्थानपर जो सूत्र रूपसे आपने भगवद् भक्तिका वर्णन किया है, इतने बड़े सागरमें, काम्यकर्मों में स्वाभाविक प्रवृत्ति वाले पुरुषोंका उनकी ओर ध्यान ही नहीं जाता। बस, वे तो अपने प्रयोजन-की बातको खोज लेते हैं। अपने मनकी बातको चित्त अति

शीघ्र ग्रहण कर लेता है। कोई प्रसंग आते ही कहने लगते हैं—'यह तो व्यासजीका वचन है।'

व्यासजी! आप बुरा न मानें। हमारी बुद्धिमें तो यह बात बैठी नहीं। आपने एक ओरकी ही बात कह दी।

इसपर व्यासजी बोले—"भगवन्! मैंने सन्यासमार्ग का भी तो वर्णन किया है। जिन्हें काम्यकर्मोमें रुचि न हो वे संसार त्यागी, विरागी बन जायँ। सन्यास धारण करके सत् असतका विवेचन करते हुए ज्ञानमार्ग का अवलम्बन करें?"

नारदजीने कहा—"यह आपकी बात यथार्थ है, किन्तु आप सोचते नहीं, सभी तो विलक्षण बुद्धिवाले व्यक्ति नहीं होते। उन सच्चिदानन्द स्वरूप विभु भगवान् के मर्मको परम वैराग्यवान् पुरुष ही अभ्यास वैराग्यके द्वारा अनुभव कर सकते हैं। किन्तु जिनकी प्रवृत्ति तो कर्ममें है, कर्म भी वे करना चाहते हैं। किन्तु ऐसे, जो बन्धनके कारण न हों, कर्म करते हुए भी वे निष्कामताकी ओर ले जानेवाले हों, ऐसे लोगों के लिये आप भागवान् की ललित लीलाओंका वर्णन करें, जिनके द्वारा कर्ण भी तृप्त हों, मन भी प्रसन्न हो। कर्मबन्धन भी न हो और भगवत् लोककी भी प्राप्ति हो सके।

अच्छा, मैं आपसे एक बात कहता हूँ, उस पर विचार करें। एक व्यक्ति है, आपके बताये हुए विधिवत् वर्णाश्रम धर्म का, काम्य कर्मों का अनुष्ठान तो करता है, किन्तु वे कार्य भगवद् भक्तिसे शून्य होकर करता है; तो क्या उसका कभी कल्याण हो सकता है? कर्मोंका फल तो अवश्य होता ही है। उसे पुण्य लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है, स्वर्ग मिल सकता है,

किन्तु फिर भी कर्मचक्रमे ही फँसना पड़ेगा। इसके विपरीत एक ऐसा व्यक्ति है, कि वह निरतर भगवद् भक्तिमे ही लगा रहता है, भगवान्‌के प्रेममे इतना तल्लीन हो गया कि उसे अपने स्वधर्म पालनका भी ध्यान नहीं रह गया है, श्रीकृष्ण भक्तिको ही उसने अपना परम धर्म बना लिया है। दैवयोग से यदि उसका पतन हो जाय भजन-पूजन छोड़ दे-तो क्या उसका सब व्यर्थ हो गया ? नहीं, वह पुन भगवद् भक्तिको प्राप्त होगा। उसकी की हुई भक्ति उसके समस्त विघ्नोको हटाकर उसे कल्याण मार्ग पर डाल देगी।

इन्द्रियोंके विषय चाहे इसलोक के हों या परलोकके, इनके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। प्रारब्धानुसार ये तो प्राप्त होते ही हैं। ससारी पुरुषोंमे ऐसा कौन है जो धनी बनना न चाहता हो ? किन्तु सभी तो धनी नहीं होते ? वृद्धावस्थाको कौन चाहता है ? किन्तु न चाहनेपर भी आ ही जाती है। मृत्यु की इच्छा कौन करता है ? न करनेपर भी जन्म धारण करने वालेकी मृत्यु आही जाती है। नाना प्रकारके ज्वर आदि रोगोंको स्वेच्छासे कौन वरण करता है ? न चाहनेपर भी रोग प्रारब्धानुसार सभीके शरीरोंमे अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। इसी तरह इन्द्रियोंका सुख भी है। बहुत-से ज्ञानी पुरुष शारीरिक सुखके लिये चेष्टा नहीं करते, चेष्टा न करनेपर भी प्रारब्धानुसार उनको शारीरिक सुख प्राप्त हो ही जाता है। ये शारीरिक सुख दुःख दोनों ही प्रारब्धानुसार आते और जाते रहते हैं। सभी योनियोंमे ये होते हैं। राजाको जो सुख अपनी रानी के द्वारा है, कुत्ते को वही सुख अपनी कुतियाके द्वारा है। इसके लिये चिन्ता करना, प्रयत्न करना, सदा इसके लिये व्यग्र बने रहना व्यर्थ है। सभी योनियाँ प्रारब्धानुसार प्राप्त होती हैं।

जिस योनिमें जाओगे प्रारब्ध साथ ही रहेगा। उसीके अनुसार सुख दुःख होंगे ही। उनकी चिन्ता करो तो भी मिलेंगे, न चिन्ता करो तो भी मिलेंगे। इसलिये इस ओर से तो मनुष्यको निश्चिन्त ही रहना चाहिये।"

व्यासजीने पूछा—"तब, महाराज ! आदमी और क्या करे ? हम लोग सदा पेट पालने तथा स्त्री बच्चोंकी रक्षाके लिए चिन्तित रहते हैं। जो वस्तुएँ प्राप्त नहीं, उनकी प्राप्तिके लिये और जो हमारे पास हैं, हमें श्रमसे या स्वतः ही प्राप्त हो गयी हैं, उन्हींकी रक्षामें तो सदा व्यग्र बने रहते हैं। संसारी लोगोंके पास दो ही तो काम हैं, योग और क्षेम। योग तो सामग्रियों को जुटाना, क्षेम जुड़ी हुई वस्तुओंको सम्हालकर सावधानी से रखना। आप दोनोंकी ही चिन्ता छोड़नेको कह रहे हैं। फिर कर्तव्य ही क्या रहा ? हाथपर हाथ रखे बैठे रहें। अकर्मण्य आलसी बन जायँ ?"

नारदजीने कहा— 'मैं अकर्मण्य आलसी बनने को थोड़े ही कह रहा हूँ। संसारी वस्तुओंको जुटाने और रक्षा करने की चिन्ता रूपी कर्म तो अत्यंत तुच्छ हैं। मैं एक ऐसा कर्म करने को बता रहा हूँ, जो ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण करने पर भी पुरुषको प्राप्त नहीं हो सकता। वही महान् कर्म है, उसीके लिये किया हुआ प्रयत्न सार्थक है। वही पुरुषका परम पुरुषार्थ है उसीसे नरदेहकी कृतकृत्यता है। उसी-का आश्रय लेकर मनुष्य निश्चिन्त हो सकता है। उसीका बिना वर्णन किये आप व्याकुल हैं उसीका विशद विशुद्ध वर्णन न करके आप अपनेमें कमीसी, अकृतकृत्यताका अनुभव कर रहे हैं। जिसने उस रसका यत्किंचित् भी आस्वादन कर लिया वह कृतकृत्य हो गया।

हे प्रियदर्शन व्यासजी! जिनके मन-मन्दिरमें मुकुन्दकी मनमोहिनी मूर्ति प्रतिष्ठित हो गयी है, वह संसारी आवागमन से सदाके लिये मुक्त हो जाता है। वह सदा आनन्द-सागरमें गोता लगाता रहता है। तुम ही सोचो, जिसे एक बार उस दिव्य रसका चसका लग गया है; जिसने उसकी मधुरताका अनुभव किया है, वह फिर कभी उसे छोड़ सकता है?

तुम कहते हो यह चराचर जगत् ही श्रीहरिका साकार स्वरूप है। इसीमें वे समान रूपसे रम रहे हैं। यह सब सत्य है। भगवान्के अतिरिक्त कुछ नहीं है, अणु-परमाणुमें वे ही व्याप्त हैं। फिर भी इस जगत्से भी विलक्षण एक भगवान् और हैं। उनमें दुःखका लेश नहीं, चिन्ताकी गंध नहीं, परम आनन्द स्वरूप, परम सुख स्वरूप वे सुखके सागर आनन्दके निधि हैं। वे सगुण साकार हैं, मुरलीधारी हैं, सबके मनको हरनेवाले हैं, सबको प्यार करनेवाले हैं, उनकी मन्द-मन्द मुस्कुराहट मनमें मिश्री घोल देती है। उनका अनुपम रूप आँखोंमें चुभ जानेसे सर्वत्र वे ही वे दिखाई देते हैं यह सम्पूर्ण जगत् विलीन हो जाता है। उनकी चितवनमें मादकता है, उनकी वंशीके स्वरमें विश्वविमोहिनी शक्ति है। उन्हींकी, कुछ कथा कहिये, उन्हींके चरित्रसे आप कृतकृत्य होंगे। उन्हींका वर्णन करके आप धन्य होंगे।

आप सब जानते हैं, लोक दिखावेको ये भाव प्रकटकर रहे हैं; मुझे मान दे रहे हैं। ज्ञानकी परम्परा बाँधनेको यह ढोंग रच रहे हैं। आप कोई साधारण पुरुष तो हैं नहीं। आप स्वयं साक्षात् श्रीहरिके अंशावतार हैं। आपने लोक-कल्याणके निमित्त यह अवतार धारण किया है। अजन्मा होकर भी आपने जन्म लिया है। आपने ही तो सब

क्रीड़ायें की हैं। शांति के साथ एकान्त में अपनी की हुई क्रीड़ाओंका स्मरण कीजिये और फिर उनका अच्छी तरह वर्णन करें जिससे लोगोंका कल्याण हो। बुद्धिमानोंकी प्रखरसे प्रखर बुद्धिका, तपस्वियोंके उत्कटसे उत्कट तपका, सभी प्रकारके वेदशास्त्रोंके अध्ययनोंका सभी प्रकारके राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञोंका, यहाँ तक ज्ञान, ध्यान, कथा, वार्ता सभीका एकमात्र फल भगवान् वासुदेवके चरणोंमें भक्ति ही होना है। समस्त कथाओंकी सार्थकता नन्दनन्दन आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके चारु चरित्रोंके वर्णनमें ही है। जिस वाणीसे वासुदेवके गुणोंका वर्णन न हुआ, वह वाणी वाणी नहीं है, जो श्रवण परम श्रवणीय श्रीकृष्णके गुणोंका गान नहीं सुनते हैं वे सच्चे श्रवण नहीं हैं, व्यर्थ के छिद्र मात्र हैं। श्रीहरिके मङ्गलमय मनोहर नाम पुरुषको संसारसागरसे पार कर देते हैं। विपत्ति से बचा लेते हैं और शाश्वती शान्तिके सदनमें सुखपूर्वक पहुँचा देते हैं।

व्यासजी ! मैं अपने अनुभवकी ही बात बता रहा हूँ सुनी सुनायी नहीं कह रहा हूँ। मैं पूर्व जन्ममें दासी पुत्र सभी साधनों से हीन था, न तो मेरे द्विजातियोंके-से संस्कार हुए थे, न गुरुकुलमें वास करके अध्ययन ही किया था। इसका मुझे अधिकार ही नहीं था। मैं अनाथ था, मुझे अपने पिताका भी पूरा पता नहीं था। इस तरह कुल, कर्म, विद्या, साधन सभीसे रहित होने पर भी, केवल श्रीहरिके सुमधुर नामोंके गायनके ही प्रभावसे, एकमात्र भगवान् वासुदेवके श्रद्धासे किये हुए संकीर्तनके ही प्रभावसे -मैं इस दशामें हो गया। लोकनिंदितसे लोकवन्दित बना। दासीपुत्रसे ब्रह्माजीका मानस पुत्र कहाया। मनुष्य से देवर्षि बना। अनादृतसे आज

चराचर लोकका परम आदरणीय बना। इन सबका एक मात्र कारण भगवान् वासुदेवकी भक्ति ही है। उनके नाम, गुण लीलाओंके श्रवण गायन और कथनका ही परिणाम है। अतः आप भी भगवान् और भक्तोंके यशका गान करें। इससे आपकी लोक में बड़ी ख्याति होगी। ससारी लोगोंका बड़ा उपकार होगा इसका आश्रय लेकर वे अपार ससार सागरको सरलताके साथ तर जायँगे और आपको भी शाश्वती शान्तिकी प्राप्ति होगी।"

इतना कहकर नारदजी चुप हो गये। व्यासजी उत्सुकताके सहित उनकी ओर देखते ही रहे।

छप्पय

मदमातेकूँ यथा मद्यरो हित जतलानो।
तथा कर्ममें निरत पुरुषकूँ विषय रतानो॥
पुनि बोले मुनि व्यास—होइगी आशा पूरी।
किन्तु कथा कछु कही आपने अबहिँ अधूरी॥
दासीसुत कैसे भये, सत-सग बस लगो मति।
चरित सुखद सब सुनाओ, होत हृदयमें हर्ष अति॥

नारदजीके पूर्वजन्मका वृत्त

(१८)

अह पुरातीतभवेऽभवं मुने ।
    दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम् ॥
निरूपितो बालक एव योगिनाम्,
    शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ॥१॥
(श्री भा० १ स्क० ५ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

मुनिवर ! मैंने महामोहवश दुर्गति पाई ।
किन्तु कृष्णकी कृपा भाइ वह विपति विताई ॥
चारु चरित हैं मधुर कृष्णके अति सुखकारी ।
उनको अभिनय रच्यो मुनिनि आज्ञा सिर धारी॥
लीला रास विलासकी, अति रहस्ययुत मधुमई ।
निरखि मुनिनिको सुधि गई, मति मोहित सबकी भई ॥

श्रोता और वक्ता दोनों ही रसिक हों तभी आनन्दका सुखद स्रोत उमड़ता है। वक्तासे श्रोताकी महत्ता अधिक बतायी है। वक्ता गौके समान है। उसके स्तनोंमें दुग्ध यथेष्ट भरा है,

---

१ श्रीनारदजी भगवान् वेदव्याससे कहते हैं—"हे मुने ! पूर्व कल्पमें मेरा जन्म वेदवादी ब्राह्मणोंकी एक दासीके गर्भसे

किन्तु जब तक श्रोता रूपी वत्स उल्लास और स्नेहके साथ स्तनोंमें हुड्ड नहीं मारता, जब तक वह उन्हें प्रेमपूर्वक पान नहीं करता तब तक गौ दूधको उतारती नहीं। वत्सके अभाव में भी व्यापारी स्वार्थवश गौसे दूध चूसते हैं, किन्तु उसमें वह स्नेह नहीं। अनुरागसे निकले दूधका गुण अद्भुत है। तन्त्रीके तारोंमें सप्तस्वरोंकी सुमधुर ध्वनियाँ विद्यमान हैं, किन्तु जबतक उन्हें कोई छेड़नेवाला न हो, तबतक उनमेंसे हृदयको आह्लादित करनेवाले संगीतकी सृष्टि नहीं होती। नारद जी जैसे वक्ता और व्यास जैसे वेद वेदाङ्गोंके वेत्ता परम रसिक श्रोता, फिर भी रसका समुद्र न उमड़े तो यह असंभव है।

जब नारदजी अपने पूर्वजन्मकी अधूरी भी सूत्ररूप-में कथा कहकर चुप हो गये, तब व्यासजीकी उत्सुकता और बढ़ी। उन्होंने अत्यन्त अनुरागके साथ पूछा—"भगवन्! आपने यह अद्भुत बात सुनायी कि आप पहिले दासी-पुत्र थे, भगवत् नाम-गुण-कीर्तनके प्रभावसे ही देवर्षि योनिको प्राप्त किया। आप इस नारद शरीरसे ही दासी पुत्र हुए या किसी दूसरी देहसे? हम तो सदासे सुनते आ रहे हैं, कि आप पितामह ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं। सृष्टिके आरम्भमें उत्पन्न हुए। आपके समीप माया मोह फटकने भी नहीं पाते, फिर आप किस कर्मके कारण दासी-पुत्र हुए?"

व्यासजीकी बातें सुन कर मदमद मुस्कराते हुए नारदजी बोले—'व्यासदेव! मैं इस नारद शरीरसे दासीपुत्र नहीं

हुआ था। उसी समय हमारे यहाँ चतुर्मास्य व्रतके लिए टिकनेको कुछ महात्माओंकी टोली आई। मैं उन्हीं सबकी सेवामें बालकपन में ही नियुक्त कर दिया गया था।

हुआ। पहिले मैं उपबर्हण नामका गन्धर्व था। अपने ही अपराधसे मैं गन्धर्व योनिसे इस मृत्यलोकमें शूद्र योनिमें उत्पन्न हुआ।"

अत्यन्त आश्चर्य प्रकट करते हुए व्यासजीने पूछा—"प्रभु! आप एकसे एक अद्भुत बात बताकर मेरे सन्देहको बढ़ा रहे हैं। सब लोग तो आपको सदासे ऐसा ही कहते हैं आप सम्पूर्ण विश्वमें स्वेच्छासे बिना किसी विघ्न बाधाके भ्रमण करते रहते हैं। आप तो जन्म, कर्म, बन्धनसे रहित हैं। फिर कब गंधर्व हुए, कब दासीपुत्र हुए? कैसे ये सब बातें आपको याद हैं? हम लोगोंको तो कल रात्रिमें देखा हुआ स्वप्न भी याद नहीं रहता?"

नारदजी तनिक अपने स्वरको ऊँचा करके प्रेमकोपके स्वरमें बोले—"व्यासजी! तुम ये बच्चोंकी-सी शंका मत किया करो। सब जान-बूझकर भी आप अज्ञानियोंकी तरह प्रश्न पूछते हैं। अजी, यह सृष्टि कोई आज ही थोड़े हुई है? आप कहो कि आप तो रविवार को मध्याह्न समय श्वेतद्वीप में थे,. फिर रविवारको ही आपने मध्याह्नमें बदरीवनमें श्रीनारायणका प्रसाद कैसे पाया? रविवार एक ही थोड़ा है। मध्याह्नका समय केवल रविवारको ही नहीं होता। नित्य प्रातः, मध्याह्न, सायं होते रहते हैं। रविवार चन्द्रवार हमेशा आते जाते रहते हैं। साल भरके पश्चात् वही ६ ऋतु फिर-फिर आती हैं यह तो निरवधि है। इसकी कोई अवधि नहीं। यह चक्र सदासे चल रहा है। जो मूर्ख हैं, अज्ञ हैं, समयकी महानताका, कालके विपर्ययका जिन्हें ज्ञान नहीं वे ऐसी शङ्का करते हैं, कि समयकी अवधि है। उन

बुद्धिहीनोंकी दृष्टिमें केवल कुछ सहस्र या लाख वर्ष ही समयकी परिधि है। न जाने कितनी बार मेरे सामने सृष्टि हुई कितने ब्रह्मा मेरे देखते,देखते बदल गये। जैसे मनुष्य सोकर उठते हैं, प्रात काल देखकर कोई आश्चर्य नहीं करते, वैसे ही प्रलयके पश्चात् इस सृष्टि-क्रमको देखकर मुझे कोई आश्चर्य नहीं होता। ब्रह्माजीके सकल्पसे हम प्रकट होते हैं इसलिये उपचारसे हमे ब्रह्मपुत्र कहा जाता है। नहीं तो कितने ब्रह्मा हमने आते-जाते देखे हैं। आप इस सृष्टि-क्रमकी शृखला बाँधनेके चक्करमें न पड़े। जैसे समुद्र न सदा अनन्त लहरें आती जाती रहती हैं ऐसे ही यह सृष्टिक्रम है। गगाजीका प्रवाह जैसे निरतर बहता रहता है वैसे ही यह ससार चक्र चलता रहता है। इसके बार सम्वत्के चक्करमें पड़ेगे, तब तो आपको कभी ज्ञान न होगा। आप जो इसमें सारातिसार भगवद् भक्ति है उसीका विचार करें। किस घटनासे, किस उपाख्यानसे भगवान् वासुदेवके चरणोंका चिन्तन होता है? किस कथाके श्रवणसे केशवके पुनीत पादपद्मोंम प्रेम उत्पन्न होता है। यही विचारणीय विषय है। मैं यह इस कल्पकी बात नहीं कह रहा, हूँ दूसरे कल्पकी बात सुना रहा हूँ।" व्यासजी ने विनीत भावसे कहा— "दीनबन्धो! मेरी शका दूर हुई। अब आप गधर्व कैसे हुए इस वृत्तान्तको सुनाइये।"

किंचित् काल मौन रह कर पुन गम्भीर होकर प्रेमाश्रु बहाते हुए गद्गद कठसे नारदजी कहने लगे— व्यासजी, यह कथा बड़ी ही मनोहर है। हृदयमें प्रेम भावका सचार करने वाली है। आपके सम्मुख उसे प्रकट करता हूँ, आप श्रद्धा सहित उसे श्रवण कीजिये।"

एक समयकी बात है कि देवराज इन्द्रकी सभामें समस्त ऋषिमुनि यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर तथा देवतागण बैठे थे। ऋषियोंने मुझसे पूछा—'नारद! तुम्हारी तो सर्वत्र अव्याहत गति है। हमने सुना है कि गोलोकमें श्रीहरिकी सदा दिव्य रास-लीला होती है। वह लीला अत्यन्त ही आह्लादकारिणी है। क्योंकि उसकी जननी आद्याशक्ति श्रीमती श्रीजी हैं। तुम तो अनेक बार गोलोक जाते हो। उस लीलाका यत् किंचित् रसा-स्वादन हम भी कराइये।'

मैंने कहा—"मुनियो! नन्दनन्दनकी वह लीला अत्यन्त रहस्यमयी है। ये सब प्रकृतिके परेकी बात हैं। जिन इन्द्रियोंका स्वभावही विषयोंकी ओर अपने आपही दौड़ना है वे भला उस दिव्य लीलाका दर्शन करनेमें कैसे समर्थ हो सकती हैं? इससे तो एक नूतन अनर्थकी सम्भावना है। यदि उस प्रकृतिसे परे दिव्या-तिदिव्य सौन्दर्यमें काम भावका सकल्प भी उठ गया, तो सब *किया कराया व्यर्थ हो जायगा।"*

ऋषियोंने आग्रहके साथ कहा—"नारद! हमारी बड़ी इच्छा है, हम उसे देखनेको आकुल हो रहे हैं। प्रत्यक्ष देखनेका सौभाग्य तो हमें कहाँ हो सकता है? आप अभिनयके द्वारा उसका यत्किंचित् आभास हमें दिखाइये। उससे हम कृतकृत्य हो जायँगे।"

मैंने भी सोचा—चलो, इसी मिससे कुछ कृष्णकीर्तन कृष्ण-लीला स्मरण होगा। अत मैंने उन महर्षियों और देवताओंसे कुछ अवधि माँगी। एक तिथि निश्चित कर दी गयी कि अमुक दिन आप यहाँ हमें अभिनय दिखावें।

ऋषियोंकी आज्ञा पाकर मैं गन्धर्व लोकमें आया। व्यासजी! यह बात तो आप जानते ही हैं, देवताओंकी

जितनी योनि हैं उन सबमे गन्धर्व और विद्याधर सौन्दर्यमे अद्वितीय होते हैं। इस गन्धमादन पर तो गन्धर्व और विद्याधरों की युवतियाँ विहार करने आती ही हैं आप उन्हें देखते ही होंगे। सगीतमे तो ये जन्मसे ही प्रवीण होते हैं। जैसे पक्षियोंके बच्चे पंख निकलते ही उड़ने लगते हैं, ऐसे ही गन्धर्व जन्म लेते ही अपने आप सस्वर गान करने लगते हैं।

मैंने उन गन्धर्व और विद्याधरोंके अत्यन्त सुन्दर-सुन्दर बालक बालिकाओंको रासलीलाके अभिनयकी शिक्षा दी। उन्हे विधिवत् श्रीकृष्णके नृत्यकी शिक्षा दी, सखियोंका सगीत सिखाया और भी जो उपयोगी विषय थे, सभीकी विधिवत् शिक्षा दी। वे सब मेरी शिक्षाके द्वारा परम प्रवीण हो गये।

व्यासजी! उस समय मेरे उत्साहका वारापार नहीं था, अपनी लगाई हुई वाटिकाको देखकर मालीका मन-मुकुर जैसे खिल जाता है, उसी अपनी शिक्षासे शिक्षित उस मनमोहक मडलीकी प्रवीणतासे मैं अत्यधिक आनन्दित था। नियत तिथि आयी। नन्दनवनके एक प्रशस्त प्रांगणमें रङ्गस्थली बनायी गयी। वह चित्र विचित्र दिव्याम्बरोंसे चित्र-विचित्रित चाँदनी और चँदोवोंसे सजाई गई थी। स्थान-स्थान पर नन्दन वनके दिव्य पुष्पोंकी मालायें लटक रही थीं। विश्व-कर्मा ने स्वय अपने हाथोंसे उसकी अद्भुत अलौकिक रचना की थी। गोलोकके सभी दृश्योंका प्रदर्शन कराया गया था। कल्पवृक्षके पुष्पोंकी मन्द-मन्द सुगन्धको लिये हुए मारुत

मन्थर गतिसे वह रहा था। सर्वत्र दिव्य पुष्प खिले हुए थे, उन पर मधु-लोलुप मत्त मधुप गुञ्जार कर रहे थे। समयसे पूर्व ही ऋषि, मुनि, देव, गन्धर्व, यक्ष, नाग आ-आ कर अपने अपने निर्दिष्ट स्थानों पर बैठ गये। दूसरी ओर यौवनके मदसे मदमाती स्वर्गकी असंख्य अप्सरायें विद्युत्के समान अपने दिव्य वस्त्राभूषणोंकी चमक-दमकसे उस सभाको प्रकाशित करती हुईं विद्यमान थीं। सभा खचाखच भरी थी, शान्ति ऐसी थी, कि एक सुई भी डालो तो इसकी ध्वनि सुनाई दे जाय। सभी एकटक भावसे दत्तचित्त होकर रङ्गभूमिकी ही ओर निहार रहे थे। सहसा रङ्गमञ्चकी जवनिका उठी और उन गन्धर्व विद्याधरके बालक-बालिकाओंने अपना दिव्य सङ्गीत आरम्भ किया। तत्पश्चात् रासलीलाका अभिनय दिखाया। सभी मन्त्र मुग्धकी भाँति मौन, थे। प्रेम के कारण सभीके कण्ठ रुँध गये थे। देवताओंके तो वैसे ही पलक नहीं गिरते, किन्तु उस समाजमें जितने भी लोग बैठे थे, किसीके पलक नहीं गिरते थे। अपने आपको भूले हुए वे समाधिस्थ पुरुषकी भाँति उस अभिनय रूप अमृतके सागर मे निमग्न थे। बाह्य जगत्का उन्हें आभास भी नहीं था। ऐसे ही समयमें जवनिका-पात हुआ। दूसरा दृश्य दिखानेमें देरी हुई। मेरा मन भी कुछ अत्यन्त सुन्दरी गन्धर्व कन्याओंमें आसक्त हो गया था। उनके उस समयके अपूर्व सौन्दर्यको देखकर चित्तमें कुछ चंचलता सी आ गयी। मैं यह निश्चय न कर सका कि यह विकारजन्य भाव है या प्रेमकी विस्मृति है। मैं अपने-आपेको भूल गया। ऋषियोंके आनन्दमें विघ्न हुआ। दृश्यके हटते ही उन्हें बाह्य जगत्का भान हुआ, उनकी प्रेम समाधि भङ्ग हुई। इस प्रकार अपने आनन्दमें इस प्रकारका

अन्तराय देखकर वे दुखी हुए और उसी दु खके आवेशमें आकर उन्होंने मुझे शाप दिया, कि जाओ तुम गन्धर्व हो जाओ और जिनके रूपमें तुम आसक्त होकर अपने आपको भूल गये हो उनके अधीन हो जाओ।

अब मेरी आखें खुलीं, किन्तु अब क्या था होना था सो हो गया। बाण धनुपसे छूट गया अब तो लक्ष्य तक पहुँचेगा ही अभिनय तो था ही, आनन्दमें निरानन्दकी लहर दौड़ गयी, रङ्गमें भग हो गया। मैंने दीनतासे जाकर ऋषियोंके पैर पकड़े और अपने उद्धारका उपाय पूछा। इस पर ऋषियोंने कहा—"तुम्हे गन्धर्व योनिमें तो जाना ही पड़ेगा, जिनको देखकर तुम्हारे चित्तमें चचलता हुई है; वे तुम्हारे ऊपर अत्यन्त ही अनुरक्त रहेंगी, किन्तु सत्सग और कृष्ण कीर्तनके प्रभावसे पुन तुम अपनी नारद योनिको ही प्राप्त करोगे।" इतना कहकर सभा भङ्ग हो गयी। ऋषि मुनि अपने-अपने स्थानों को चले गये।

उन सत्यवादी अमोघवीर्य तपोधन ब्रह्मर्षियोंके वाक्य व्यर्थ तो होनेवाले नहीं थे। कालान्तरमें मझे गन्धर्व योनि में आना पड़ा। वहाँसे भी भाग्यवश ब्रह्माजीके शापके कारण मैं दासीपुत्र हुआ। इस शूद्र योनिमें ही मुझे सत्सगके द्वारा भगवद् ध्यान और कृष्णकीर्तनका स्वाद लगा, जिससे पुन मैंने यह अपनी नारद देह प्राप्त की।"

इतना कहकर नारदजीने अपने पूर्व जन्मकी कथाका उपसंहार किया।

छप्पय

रंगभूमि अति रम्य रासको रसमय अभिनय।
निरखि सबनिको चित्त चमत्कृत भयो सुअतिशय॥
मेरे मनमें मैल धँस्यो, रस बिरस भयो सब।
नारद लम्पट होउ मुनिनि मिलि शाप दियो तब॥
बन्दन करि विनती करी, होय शापको अंत कब।
सत्संगति हरि भक्ति लहि, होओ मुनि पुनि कह्यो अब॥

गन्धर्व योनिमें नारदजी

(१६)

अहं पुराभवं कश्चिद् गन्धर्व उपबर्हणः ।
नाम्नातीते महाकल्पे गन्धर्वाणां सुसम्मतः ॥१

(श्री भा० ७ स्क० १५ अ० ६६ श्लो०)

छप्पय

गई सृष्टितैं पूर्व कल्पमें अति ही सुन्दर ।
उपबर्हण गन्धर्व नामको हो हौं मुनिवर !
नखतैं शिरलौं सुघड़ मनोहर मेरी मूरति ।
दिव्य गंधयुत देह शरीरी मानों रतिपति ॥
मेरे मनहर रूपपै, अबला, अति आसक्त ई ।
मदन मथित मदमत्त ई, सब समान अनुरक्त ई ॥

जैसे मिठाई वेचनेवाला पहिले ग्राहकको बिना मूल्य थोड़ी बानगी चखाता है, जिससे उसकी जिह्वा उसके स्वादसे आकृष्ट हो उठे और विवश होकर उसे मिठाई लेनी ही पड़े ।

---

१ नारदजीसे राजा युधिष्ठिर कहते हैं—'हे राजन् ! मैं पिछले बीते हुए महाकल्पमें उपबर्हण नामका गन्धर्व था । दूसरे जितने भी सब गन्धर्व थे, मेरा बड़ा ही सम्मान करते थे ।

इसी तरह नारदजीने अपने पूर्व जन्मकी कथा कहकर आगे के प्रसंगको सूक्ष्मरूपसे कह दिया। इसपर भागवत कथा लोलुप व्यासजीकी उत्सुकता और बढ़ी वे देवर्षि नारदजी-से कहने लगे—"भगवन्! आपने अपने पूर्वजन्मकी अत्यद्भुत कथा कहकर मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया। अब मैं यह सुनना चाहता हूँ, कि आपने गन्धर्व योनि कैसे प्राप्त की और फिर शूद्र योनिमें किस कारणसे जाना पड़ा? भगवान् और भक्तोंके चरित्र समान ही सुख देनेवाले हैं। यही नहीं, भक्तोंके चरित्रतो भगवान्के चरित्रसे भी बढ़-कर हैं। आपतो भक्त भी हैं, भगवान्के अवतार भी हैं आपके चरित्र श्रवणसे मुझे ही नहीं, सम्पूर्ण संसारको सुख शान्तिकी प्राप्ति होगी।"

भगवान् व्यासके इस प्रकार पूछनेपर श्रीनारदजी कहने लगे—'मुनिवर! मैं अपना आगेका वृत्तान्त सुनता हूँ। आप ध्यानपूर्वक श्रवण करें। ऋषि मुनियोंकी भाव-समाधिमें भाव संकर होनेसे उन्हें मानसिक पीड़ा हुई। वे सब भगवद् भावमें भावित थे। श्रीहरिकी दिव्य लीलाओंमें उनका चित्त आसक्त था। मैंने उनके सुखमें अन्तराय उपस्थित किया। इसीसे उन्होंने मुझे गन्धर्व होनेका शाप दिया। ऋषिके वचन अन्यथा तो हो नहीं सकते। मैं गन्धर्वों में जाकर उत्पन्न हुआ। वहाँ मेरा नाम उपवर्हण था।

मेरे सौन्दर्यका तो पूछना ही क्या। नखसे शिख तक इतना सुन्दर था, कि मानों सौन्दर्यके साँचेमें ढालकर ब्रह्माजीने मेरी रचना की हो। शरीरकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान थी। नवनीतके समान स्निग्धता थी। मुझे शृङ्गार करनेसे भी बड़ा प्रेम था। सर्वथा शरीरके सौन्दर्यको ही

बढानेकी चिन्तामें लगा रहता था। मनमे मनोहरता का अहकार व्याप्त रहता, नेत्र सदा मदसे भरे रहते। मेरे शरीरसे सदा दिव्य गध निकलती रहती, जिससे आस पासके लोग स्वत ही मेरी ओर आकर्षित हो जाते। व्यासजी! सौन्दर्यका मद मनुष्यको सत्पथसे भ्रष्ट कर देता है। स्त्रियोंके हृदयकी रचना अत्यन्त ही कोमल तन्तुओंसे हुई है। इनके ऊपर सौन्दर्यका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। सुसज्जित सुन्दर पुरुषको देखकर कोई परम सती साध्वी ही सावधान रह सकती है। नहीं तो प्राय स्त्रियोंका धैर्य छूट जाता है। इसलिये शास्त्रकारोंने इस बातपर बार-बार बड़ा ही बल दिया है, कि चाहे अपना सगा भाई ही क्यों न हो, युवा पुत्र ही क्यों न हो, एकान्तमें उससे भी खुल कर व्यर्थ की बातें न करनी चाहिये। इसी प्रकार पुरुषोंके लिये भी कहा है—चाहे अपनी सगी बहिन, पुत्री या मातृ स्थानीय दूसरी युवती पूज्य स्त्री ही क्यों न हो, उनसे न एकान्तमें बहुत बातें करनी चाहिए, न उनके हाव-भाव कटाक्षोंका ध्यानपूर्वक एकान्तमें अवलोकन चिन्तन ही करना चाहिये। दोनोंमें ही यदि सौन्दर्य भी हो, तो वह तो विष बुझे बाणका ही काम करता है।

गन्धर्वोंमें तो यह बात है ही नहीं। वहाँ तो सब साथ हँसते खेलते और क्रीड़ा करते हैं। मेरे सौन्दर्यपर सभी स्त्रियाँ मुग्ध थीं। जैसे सुन्दर रस भरे कुसुमके आस पास मधुमक्खियाँ मँडराती रहती हैं, वैसे ही गन्धर्व युवतियाँ मुझे घेरे रहतीं। जैसे मीठी वस्तुके लोभसे बहुतसी चींटियाँ अपने आप एकत्र हो जाती हैं, वैसे ही बहुतसी गन्धर्व कन्यायें मेरे समीप आ जातीं। जैसे नृत्य करते हुए मयूरको देखकर बहुतसी मयूरियाँ उसे घेरकर उसके उत्साहको

अत्यन्त बढ़ाती हुई कुछ मधुर शब्द सा करने लगती हैं, उसी तरह मुझे गाते देखकर वे मदमाती युवतियाँ अपने कोकिल कूजित कमनीय कण्ठसे मेरे साथ गाने लगतीं, जिससे मेरा उत्साह द्विगुणित होता और मेरी सम्पूर्ण कला अपने आप प्रस्फुटित होने लगती।

मैं अपने सौन्दर्यके मदमें मस्त था। मुझे संसारका कुछ भी पता नहीं। सौन्दर्यके अभिमानने मेरे विनय, सदाचार और लोकलाजको भी नष्ट कर दिया था। रूपवान् पुरुष ससार में अपने समान किसीको समझता ही नहीं। इस प्रकार सौन्दर्य रूपी सुराको पान करके मैं पागल उन्मत्तके समान बना हुआ गाने बजाने और नाचनेमें ही समय बिताने लगा मेरा गला सुरीला था। मेरे गायनकी सर्वत्र प्रशंसा थी। इतना सब होनेपर भी पूर्व जन्मके संस्कारोंके बशीभूत होकर मैं श्रीहरिके ही गीतोंका गायन किया करता था। अन्य इधर उधर के विषय सम्बन्धी गीतोंसे मुझे घृणा थी। इसीलिये मेरे भगवद् गुणानुवाद सम्बन्धी पदोंके कीर्तनकी सभी लोगों में ख्याति हो गयी।

एक समयकी बात है। सब प्रजापतियोंने मिलकर एक बड़ा भारी यज्ञ किया। उस यज्ञमें बड़े-बड़े गन्धर्व गानेके लिये बुलाये गये। बड़ी-बड़ी अप्सराओंका नृत्यके लिये आह्वान किया गया। मेरी तो सर्वत्र ख्याति थी ही, मुझे भी निमन्त्रण मिला। इसे कलाके प्रदर्शनका उत्तम अवसर समझकर मैं भी उस देवसत्रमें गया। किन्तु मुझे तो सौन्दर्यकी सुराने उन्मत्त बना रखा था। मैं अकेला नहीं गया। अपनी मनोहर मण्डलीके साथ भली भाँति बन ठन

कर बड़े ठाठ और गर्वके सहित मैंने प्रवेश किया। उस समय मेरी शोभा अद्भुत ही थी। जिस प्रकार अपने ऐनके भार से मद मद चलनेवाली गौओंके बीचमें साँड़ चलता है उसी प्रकार श्रोणी तथा पयोधरोंके भारसे मथरगतिसे इठला कर चलनेवाली उन गन्धर्व युवतियोंसे घिरा हुआ मैं जा रहा था। अपनी बड़ी-बड़ी विशाल आँखोंसे जैसे बहुत सी हिरनियाँ अपने यूथपतिको बार-बार निहारती हुई चलती हैं, उसी प्रकार सब कमलनयनी अपने कमनीय कटाक्षोंसे मुझे रिझाती हुई चल रही थीं। जैसे मयूरियोंसे घिरा उन्मत्त मयूर नृत्य करता हुआ शनै शनै चलता है, उसी प्रकार मैं भी उनकी रूपमाधुरीमें आसक्त नाचता हुआ सा जा रहा था। जैसे हथिनियोंसे घिरा विशाल डीलडौलका हाथी उनको प्यार करता हुआ चलता है, उसी प्रकार मैं भी अपने प्रभुत्वको उन पर प्रदर्शित करता हुआ सभामें प्रवेश कर रहा था। जैसे बहुत सी भ्रमरियोंके बीच गुनगुनाता हुआ मधुलोभी मधुप जा रहा हो, उसी प्रकार अपनी आभासे दशों दिशाओं को प्रकाशित करनेवाली गान श्यामा गन्धर्वियोंके साथ गाता हुआ मैं उस सभामें गया।

मैंने न तो वहाँके सभासदोंको प्रणाम ही किया और न देवता, ऋषि तथा प्रजापतियोंके प्रति सम्मान ही प्रदर्शित किया। मैं उस समय अपने आपेमें था ही नहीं। मेरे सिर पर तो सौन्दर्यका भूत चढ़ा हुआ था। उसने मेरे सम्पूर्ण विवेकको नष्ट कर दिया था। लोकलाज, विनय, शिष्टाचार तो कामी पुरुषोंको त्यागकर चले ही जाते हैं। फिर वे मेरे पास रहने ही क्यों लगे, उद्धत निर्लज्जके समान मैं उस सभामें चला गया। इस अविनयसे विश्वको रचनेवाले सभी

के पूजनीय प्रजापति क्रुद्ध हो गये और मुझे शाप दिया—"अरे, तू अविनीतकी भाँति हमारी अवज्ञा करता हुआ इस सत्रमें आया है अतः जा, तू शूद्र हो जा ! पृथ्वीमें तेरा जन्म शूद्रोंकी योनिसे हो।"

प्रजापतियोंके ऐसे शापको सुनकर जैसे गहरी भाँग पिये हुए मनुष्यका नशा खट्टा दही पीनेसे उतर जाता है, उसी प्रकार मेरा सौन्दर्यमद उतर गया। मेरी आँखें खुल गयीं। चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखायी देने लगा। हाय ! अब मुझे देव लोक त्यागकर मर्त्यलोकमें जाना पड़ेगा। वहाँ शूद्रयोनिमें उत्पन्न होकर न जाने क्या-क्या कुकर्म करने पड़ेंगे। हाय ! मैंने इन स्त्रियोंके फन्देमें फँसकर अपना सर्वस्व नष्ट कर दिया। समस्त सद्गुण मुझे त्याग कर पहिले ही चले गये थे। अब जिस सुन्दर गन्धर्व शरीरका मुझे अत्यधिक अभिमान था उसे भी त्यागना पड़ेगा। मुझसे बड़ी भूल हुई। मैं अब इन कामिनियोंका संग न करूँगा। सदाचारसे भ्रष्ट करनेवाली उन सुन्दरियोंसे सम्बन्ध अब मैं न रखूँगा। इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए मैंने, प्रजापतियोंके पादपद्मोंमें प्रणाम किया और दीनताके साथ उनसे अपने उद्धारका उपाय पूछा। प्रजापतियोंने कहा—"हमारा शाप अन्यथा तो हो नहीं सकता। हाँ, इतना होगा कि तुम्हें बहुत दिनों तक शूद्रयोनिमें न रहना पड़ेगा। बहुत थोड़े ही समयमें तुम्हारा उससे छुटकारा हो जायगा। महात्माओंके सत्संगके प्रभावसे फिर तुम्हें देवर्षित्व प्राप्त होगा।"

प्रजापतियोंके ऐसे वचन सुनकर मुझे सन्तोष हुआ। अपने रूपमद और काम चेष्टाओंपर पश्चात्ताप करता हुआ

तुरंत ही गन्धर्व योनिसे पतित हुआ। पृथ्वी पर आकर एक शूद्राके गर्भसे मेरा जन्म हुआ। शूद्राके गर्भसे जन्म होने पर भी मुझे सत्सगकी प्राप्ति हुई। मुझे अपने पिताका तो पता नहीं, वह कौन था, किस गोत्रका था, किन्तु मेरी माँ ब्रह्मवादी मुनियोंकी दासी थी! उन्हींकी सेवा सुश्रूषामें सदा तत्पर रहती। उसके और कोई सवान नहीं थी। मैं ही उसका सर्वस्व था। वह कुछ पढी लिखी नहीं थी। परमार्थ पथमें भी उसका प्रवेश नहीं था। इन ससारी सुखोंको ही सर्वश्रेष्ठ समझने वाली थी जैसे सब ससारी होते हैं, वैसी ही वह थी। बडी दीन चित्ता और कृपणा थी। उसकी समस्त मोह ममता मेरे ही ऊरर सीमित थी। मैं उसका बाहिरी प्राण था। सदा मेरे लालन-पालनकी चिन्तामें लगी रहती। मुझे तनिक भी कष्ट होता, तो वह व्यग्र हो जाती। रात्रि-रात्रि भर जागकर वह मेरी देख-रेख रखती। इधर उधरसे अच्छी अच्छी वस्तुएँ माँग जाँच कर लाती और मुझे खिलाती। उसे आठों पहर मेरा ध्यान रहता। सोते समय भी मेरे ही सम्बन्धके स्वप्न देखती। इसी प्रकार मेरी अवस्था पाँच वर्ष की हो गयी।

मेरी माताके मनोरथ रात्रि दिन चलते ही रहते। वह सोचती—"अब मेरा बेटा पाँच वर्षका हो गया है। तनिक और बड़ा हो जाय तो ५, ६ वर्षके अनन्तर कहींसे इसका विवाहकर दूँगी। जब घरमें छम्म छम्म करती हुई, गुडिया सी बहू आ जायगी और इन दोनोंको जब साथ-साथ मैं देखूँगी, तब मेरे मनोरथ सफल हो जायँगे। मैं धन्य हो जाऊँगी।

व्यासजी, इन ससारी माता पिताओंकी यही एक मात्र सर्व श्रेष्ठ कामना रहती है, कि हमारा बेटा बड़ा हो जाय।

बहुआ सी सुन्दर बहू आ जाय, आर उसके भी बच्चा हो जाय। इससे आगे वे कुछ नहीं सोचते, यही उनके जीवनकी अंतिम अभिलाषा रहती है। मेरी माँ की भी यही दशा थी। वह कभी-कभी प्रेममें भर कर मुझसे कह भी देती—अरे बेटा! देख तू यह करेगा तो तेरी बड़ी सुन्दर बहू आयेगी। व्यासजी! मुझे यह बहू-दूल्हाकी बातें तनिक भी नहीं सुहाती थीं। माताका इतना मोह भी मुझे अच्छा नहीं लगता था। मैं पिंजड़ेके पक्षीकी तरह अपनेको बँधा हुआ समझता था। बाल्यकालसे ही मुझे संसारी बातोंसे विरक्ति थी। माताके प्रति भी मेरे मनमें ममता नहीं थी। मुझे वह भार-सी प्रतीत होती। उसे बुरा न लगे, इसलिये कुछ कहता नहीं था, किन्तु सोचता था, यदि इसने विवाह करनेको कहा तो मैं कभी न करूँगा। व्यासजी! आप इसे भली भाँति समझ लें कि पूतके पाँव पालनेमें ही प्रतीत होने लगते हैं। होनहार बिरवानके आरम्भसे ही चीकने पात होते हैं। जिन बच्चों को आरम्भसे ही बहू, दूल्हाकी बातें अच्छी लगती हैं, बालक-बालिकाओंके साथ खेलमें भी जो बहू दूल्हाके खेल खेलते हैं समझना चाहिये, आगे चलकर ये अवश्य ही संसारी होंगे। जिन्हें आरम्भसे संसारी बातें प्रिय नहीं, जो खेलमें भी भगवान्की ही लीलाओंका अनुकरण करते हैं, जिन्हें आरम्भसे ही साधु सन्त और भगवद् भक्तोंके प्रति अनुराग होता है, समझ लो वे आगे चलकर अवश्य ही सन्त होंगे। मैं सोचता था, किसी तरह यह बुढ़िया लुढ़क जाय, इसकी आँखें सदाके लिये मिच जायँ, तो मैं कहीं जङ्गलमें जाकर चैनकी वंशी बजाऊँ, हरिभक्तिमें समय बिताऊँ, प्रेमसे श्रीहरिके गुण गाऊँ। इस प्रकार माता कछ और ही सोच रही थी और मैं

दूसरा ही विधान बना रहा था। सो व्यासजी, इसी प्रकार मेरा बाल्यकाल बीता।

छप्पय

भयो यज्ञ इक विशद सबहिं गन्धर्व बुलाये।
विश्व सृजनिकी आयसुतें हम सबहूँ आये॥
मृगनैनिनितैं घिर्यो रूप मदमें मतवारो।
अविनय मेरी निरखि शाप सबने दै डारो॥
जा, पृथ्वीपै जनहिं तू, शूद्र योनिमें प्रकट हो।
मेरी अनुनयपै कह्यो—सन्त समागम निकट हो॥

नारदजीको शूद्र योनिमें सत्संग

(२०)

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता—
मनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः ।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वत
प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः ॥[1]

(श्रीभा० १ स्क० ५ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

दासीको हौं पुत्र किन्तु शुभ कर्मनिमहँ रुचि ।
साधुसंगतें बुद्धि भई मेरी कछु कछु शुचि ॥
चातुर्मास्य निमित्त वहाँ बहु मुनिवर आये ।
सेवा सौंपी मोइ सुने हरि चरित सुहाये ॥
सीथप्रसादी पाइकें, पाप पहाड़ ढये सकल ।
जग सूनो सूनो लगत, रहत कृष्ण बिनु चित विकल ॥

संसारमें सर्वत्र स्वार्थ का ही साम्राज्य है। सभी अपनी-अपनी घातमें बैठे हैं। सभी स्वार्थ सिद्धिके लिये लालायित हैं। लोभी पुत्र सोचता है, पिताका परलोकवास हो तो मेरे मनोरथ सिद्ध हों। स्वार्थी पिता सोचता है, बेटा कुछ सयाना

---

१ नारदजी व्यासजीसे कहते हैं—"हे परमप्रेमास्पद व्यासजी ! जब मेरी माँने मुझे चातुर्मासमें एक स्थानपर निवास करनेवाले

हो तो कमाकर खिलावे। यही दशा सबकी समझनी चाहिये। सच्चा स्नेह करनेवाले सम्बन्धी तो विरले ही कोई होते हैं।" नारदजीके, अपनी पूर्वजन्मकी दासी माताके प्रति ऐसे भाव समझ कर व्यासजी हँस पड़े और फिर मुस्कुराते हुए नारदजीसे पूछने लगे—" ब्रह्मन्! मुझे एक संदेह उत्पन्न हो गया। आपकी पूर्व जन्मकी दासी माता तो आपके ऊपर इतनी मोह ममता रखती थी और आप उसके प्रति तनिक भी स्नेह नहीं रखते थे। उलटे उसका अत ही चाहते, थे इसका क्या कारण हैं ?"

व्यासजीकी बात सुनकर नारदजी कुछ गंभीर हो गये और फिर थोड़ी देर ठहर कर कहने लगे—"व्यासजी! यह सम्पूर्ण जगत् अपने-अपने कर्मोंके अधीन होकर चेष्टा कर रहा है। मनुष्य पूर्व जन्मोंके संस्कारोंसे विवश होकर सभी चेष्टाएँ करता हैं। जिससे पूर्व जन्मोंमें कभी किसी प्रकारका सम्बन्ध हुआ है, वही आकर इस जन्ममें अपना सम्बन्धी बनाता है। विना पूर्व जन्मोंके संस्कारोंके किसीसे सम्बन्ध जुटता ही नहीं। इसी तरह संसारमें पद, प्रतिष्ठा सर्वप्रियता की दशा है। जिसने पूर्व जन्मोंमें यथेष्ट अन्न दान दिया है इस जन्ममें उसीकी प्रसिद्धि तथा प्रशंसा होगी। विना अन्न दानके प्रसिद्ध होती ही नहीं। जिसने पूर्व जन्मोंमें जितने लोगोंके प्रति समदर्शिता प्रकट की होगी, वह उतना ही

मुनियोंकी सेवामें नियुक्त कर दिया, तो मैं वहाँ नित्य प्रति कृष्ण कथा सुनने लगा। वे महात्मा नित्य नियमसे बड़ी ही मधुर मनोहर कथा कहा करते थे। उन कथाओंके एक-एक पदको मैं बड़े ही ध्यानसे श्रद्धा सहित सुनता था। उनके सुनते-सुनते ही जिनका श्रवण कीर्तन अत्यन्त ही मनोहर है, उन श्यामसुन्दरकी मनमोहनी मूर्ति में मेरा मन फँस गया। प्रभुके पादपद्मोंमें भक्ति उत्पन्न हो गयी।

सब लोगोंका प्रिय होगा। पूर्व जन्ममें जिससे जितना ही व्रत तप किया होगा, उसे अगले जन्ममें उतना ही शारीरिक सुख प्राप्त होगा। व्रत तपसे आन्तरिक शान्तिकी प्राप्ति होती है। वैराग्यसे संसारके सभी सम्बन्धनोंमें उदासीनता होती है। यही दशा पुत्र आदि सम्बन्धियोंके विषयमें है। पुत्र पाँच प्रकारके होते हैं। न्यासहर्ता, ऋणभोक्ता, ऋणदाता, उदासीन और सत्पुत्र।

किसीने हमारे पास हमारा विश्वास करके कोई चीज धरोहर रख दी। जब उसने माँगी तो हमने नहीं दी। इससे उसे अत्यन्त क्लेश हुआ। वही आकर हमारा पुत्र बनता है। वह बड़ा रूपवान्, गुणी और पितृभक्त होता है। पिता उसके ऊपर बहुत द्रव्य व्यय करता है, पढ़ाता लिखाता है, विवाह करता है। अब में वह अल्पायु होकर मर जाता है। पूर्व जन्म में उसे जैसा धरोहरके नष्ट होनेसे दुःख हुआ था, वैसा ही गुणी पुत्रके मरने पर इस पिताको दुःख होता है।

किसीका ऋण लेकर हमने नहीं दिया तो वह भी आकर पुत्र बनता है। स्वभावका बड़ा ही क्रोधी होता है, बाल्यकाल से ही माता पिताको दुःख देने लगता है। रोगी रहता है, खेल में भी माता पिता को मार कर भाग जाता है। हँसता है सबसे लड़ता है, घरमें कलह करता है, अकेला-अकेला अच्छी अच्छी वस्तुएँ खाता है। माता पिताके मरनेकी प्रतीक्षा करता है, मरनेपर उनका श्राद्ध तर्पण भी नहीं करता। यह ऋण-भोक्ता पुत्र कहलाता है।

किसीने हमारा ऋण लेकर नहीं दिया। वह भी ऋण चुकाने को पुत्र होता है। पैदा होते ही रात्रि दिन परिश्रम करता है। स्वयं कुछ खाता पीता नहीं। रात्रि दिन धन जुटा-जुटा कर

माता पिताको देता है। उनके मरनेपर उनके बड़ी धूमधामसे श्राद्धादि कर्म करता है। यह ऋणदाता पुत्र कहलाता है।

एक सत् पुत्र होते हैं। हमने किसी देवताकी, भगवान्‌की, सत महात्माकी सेवा की, श्रद्धापूर्वक तपस्या की और व्रत किये। इससे प्रसन्न होकर या तो वे स्वय या कोई और पुण्यात्मा पुरुष हमारे तपके प्रभावसे पुत्र बनते हैं। वे माता पिताके भक्त, गुणी, सत्पात्र, धार्मिक, देवता, ऋषि और पितरोंके कार्यों में निरत सब को सुख देनेवाले वशको बढानेवाले, सुख सम्पत्तिको भोगनेवाले सत्पुत्र कहाते हैं।

एक उदासीन भी होते हैं, जिनका पूर्व जन्ममे हमसे कोई विशेष सन्बन्ध तो रहा नहीं, किसी कारण विशेषसे अथवा शापवश पुत्र हो जाते हैं। उन्हे जन्मसे ही माया मोह नहीं रहता। ज्ञानके प्रभावसे अथवा भगवद् भक्तिके कारण उनके सभी ससारी कर्तव्य गौण हो जाते हैं। उनका एक मात्र कर्तव्य भगवद् भक्ति ही होता है। वे जन्मसे ही उदासीन होते हैं, साधु सग, कथा श्रवण, भगवद् भक्ति तथा सन्त महात्माओंकी सेवामे अथवा भगवत् विग्रहकी अर्चा मे बाल्यकालसे ही उनकी रुचि होती है। वे विवाह-बन्धनमें नहीं बँधते। यदि किसी कारण विशेषसे बँध भी जाते हैं तो उनके पुत्र नहीं होते लोभ नहीं करते परोपकारमें ही सब समय निरत रहते हैं। पुत्र इसलिये नहीं होते कि उन्होंने पूर्व जन्मोंमें न किसीकी धरोहर हरण की, न किसीका ऋण ही मारा, न किसीसे इच्छा ही की। यदि किसी सम्बन्धसे कोई पुत्र हो भी गया तो उसमें भी उनका ममत्व नहीं रहता। जैसे और सबके पुत्र हैं वैसे ही उसे समझते हैं। इसी तरह

भाई, मित्र, पिता, माता सभी सम्बन्धियों, यहाँ तक कि नौकर भृत्य, पशु पक्षी जिससे भी अपना सम्बन्ध हो, सबके सम्बन्धमें इसी प्रकार समझना चाहिये।

मेरा माताके साथ किसी पूर्व जन्मका तो लेन-देनका सम्बन्ध था ही नहीं। होगा भी तो उसीका होगा। मेरी रुचि तो आरभ से ही साधु संगमें थी। घरमें मेरा मन ही न लगता। जिनके यहाँ हमारी माँ दासी थी, वे अच्छे विद्वान् ब्राह्मण थे, किन्तु उनसे खुलकर बातें मैं नहीं कर सकता था। उनके सामने संकोच होता था। हम लोग उनके दास ठहरे, वे हमारे स्वामी ठहरे। व्यासजी! सभी लोग प्यार चाहते हैं। सभी किसीसे प्यार पानेके लिये या किसीको प्यार करनेके लिये तड़पते रहते हैं। वे लोग धन्य हैं, जिन्हे किसीका सच्चा प्यार प्राप्त है, या जिसे वे ही हृदयसे प्यार करते हैं। मेरी माँ तो मायामें ही पड़ी रहती। उससे तो खुलकर बातें ही न होतीं। मेरा मन साधु सगके लिये तड़पने लगा। मैं बाल्यकालसे ही गभीर, चतुर, सुशील और सर्वप्रिय था मुझे खेलकूद लड़ाई झगड़ा तनिक भी प्रिय न था। सोचता था—कोई महात्मा मिलें तो उनके चरणोंमें बैठकर खूब रोऊँ और अपने हृदयकी ज्वालाको शांत करूँ।

सच्ची वासना कभी न कभी अवश्य ही पूरी होती है। इसी प्रकार मेरी भी यह सद् वासना पूरी हुई। एक बार ज्येष्ठ के महीनेमें कुछ महात्मा हमारे ग्राममें चातुर्मास्य व्रत करने आये। वे आठ महीने तो भ्रमण करते रहते थे, चार महीने वर्षा में एक जगह रहकर नियम व्रत करते। हमारा ग्राम श्रीगगा जीके तटपर था; ब्राह्मणोंकी बस्ती थी। इस वर्ष मुनियोंने वहीं चातुर्मास्य करनेका निश्चय किया। ग्रामसे बाहर

भगवती भागीरथीके तटपर एक विस्तृत बगीचेमें उन मुनियों-की कुटियाँ बनायीं गयीं। ग्रामके लोगोंने उनकी भिक्षा आदिका समुचित प्रबन्ध कर दिया। वह बगीचा हमारे स्वामी ब्राह्मणदेवके घरके समीप ही था। मेरी माँ जिनकी दासी थी उन ब्राह्मणदेवने बड़े स्नेहसे मुझसे कहा—"बेटा, देखो, तुम उन महात्माओंके ही समीप मे रहा करो। उनकी जो भी सेवा हो बड़े प्रेमसे करना। इससे तुम्हारा बडा कल्याण होगा।

मुझे तो मानों निधि मिल गयी। निर्धनको धन मिलने पर अन्धेको पुन दृष्टि मिलने पर, धनी अपुत्रीको पुत्रप्राप्तिपर, जन्मके कैदीको कारागारको मुक्तिपर जितनी प्रसन्नता होती है उससे अधिक प्रसन्नता मुझे इस बात पर हुई। वहाँ समीप ही मेरी माँ कुछ कार्य कर रही थी। उससे भी हमारे स्वामी ब्राह्मण-देवने कहा—"कृष्णदासी! देख, तेरे बच्चेको हम वहाँ साधुओंकी सेवाम रखते हैं। वे बड़े भजनानन्दी महात्मा हैं। उनके यहाँ भोजन आदिको तो कुछ कमी ही नहीं। सुन्दरसे सुन्दर भगवान्का प्रसाद नित्य मिलेगा। फिर उन महात्माओंके सत्सगसे इसका कल्याण भी हो जायगा।"

धनहीना माता तो यह चाहा ही करती है कि किसी प्रकार मेरे सुतको सुख मिले। मेरी माँने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—"आप का ही बच्चा है जहाँ च है रख। महात्माओंकी सेवासे क्या नहीं हो सकता। उनकी कृपा हो जाय और वे आशीर्वाद दे दें तो मेरे बच्चेकी सुन्दरसी बहू आ जायगी।"

बस, उसे एक वही बहूकी धुनि थी। हमारे स्वामी ब्राह्मण देवता मुझे उन महात्माओंके समीप ले गये। उनमें जो सबसे वृद्ध सबके महन्त महात्मा थे, उनसे उन्होंने कहा—"यह बच्चा

है, सुशील है, आपके चरणोंमें रहेगा। आपकी सेवा सुश्रूषा करेगा।"

उन महात्माने मुझे देखा। मेरे ऊपर कृपादृष्टि करते हुए मधुर वाणीसे बोले—"अच्छी बात है; यहाँ भगवान्‌की सेवामें सहयोग देना, कुछ बाह्य कैंकर्य करेगा।"

अब क्या था, ? मेरा भाग्य खुल गया। मैं उन महात्माओं के चरणोंकी शरणमें रहने लगा। व्यासजी ! उन चार महीनों में जैसा सुख मिला, अब १४ भुवनोंमें घूम-घूमकर देखता हूँ, वैसा सुख कहीं देखनेमें नहीं आता। वे महात्मा सब कितने महान् थे, कितने त्यागी थे, कैसे भजनानन्दी थे, कुछ कहते नहीं बनता। उनका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता था। सभी अरुणोदयसे पूर्व ही उठ जाते। शीघ्र ही शौचादिसे निवृत्त होकर पुण्यतोया भगवती भागीरथीमें स्नान करते। अपने सन्ध्यादि कर्मोको वहीं कर आते। आकर सब जप, पूजा, पाठ में लगते। कुछ महात्मा भगवत् सेवामें लग जाते। भगवान्की आरती होती, सब मिलकर कीर्तन करते। फिर विष्णु सहस्रनाम आदि स्तोत्रोंका, वेदोंका पाठ करते। भगवान्का भोग लगता, सभी मिलकर प्रसाद पाते, गगाजी जाते। मध्याह्नकी सन्ध्या आदि कृत्य करते। फिर भगवानके चरित्रों की अमृतमयी कथायें होतीं, सभी बड़ी श्रद्धा भक्तिसे श्रवण करते। पुन सब मिलकर भागवान्के सुमधुर नामोंका संकीर्तन करते। सकीर्तनसे उठते ही सब शौचादिको चले जाते। सन्ध्या आरती होती, कीर्तन होता, सत्सङ्ग होता। कोई क्षण ऐसा नहीं जाता था जिसमें परमार्थ चर्चा न हो। उनके सब कार्य कृष्णार्पण बुद्धिसे, बड़े नियम तथा संयमसे समयपर ही होते। कभी किसी कार्यमें प्रमाद या आलस्य नहीं होता था। यद्यपि मेरी देखनेमें अवस्था छोटी थी, किन्तु पूर्व जन्मों के संस्कारोंसे मुझे सब बोध था। मैं समझता था, मेरे जीवनमें यह स्वर्णावसर बड़े भाग्यसे आया है। इसका उपयोग बड़ी सावधानीके साथ दत्तचित्त होकर करना चाहिये। यद्यपि उन साधुओंको किसीसे रागद्वेष या ममता मोह तो था ही

नहीं, वे सभी समदर्शी थे, किन्तु मेरी सरलता, सत्यता, सेवा परायणता, संयम और सदाचारके कारण मुझपर विशेष कृपा रखते। मैं भी अव्यग्र होकर उनकी सेवा सुश्रुषा में सदा तत्पररहता। वे जो बूढ़े सबके आचार्य महन्त थे, मुझपर पुत्रवत् स्नेह रखते। उनका निष्कपट प्रेम पाकर मेरे हृदयकी कलियाँ खिल जातीं। हृदय चाहता था, उनकी प्यारी-प्यारी स्वच्छ सफेद दाढ़ीको सदा देखता ही रहूँ। कैसा तेजस्वी मुखमंडल था उन महात्माका। हँस कर जब वे कथा कहते, तो ऐसे लगते मानों अमृतकी वर्षा कर रहे हों। कहते-कहते उनका कंठ गद्-गद् हो जाता, नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगते। बीच-बीचमें वाणीके गद् गद् हो जाने से कथा रुक जाती। वे अपने आपेमें नहीं रहते। भावमग्न होकर किसी दूसरे लोकमें चले जाते थे और उसी लोकसे प्रेमके आवेशमें दिव्य वाणीसे कथा कहते। मुझसे जब बातें करते, पहिले प्रेमसे पुचकारते, फिर 'वेटा' कहते। तब कोई काम करने को कहते। कैसा उनका सरल स्वभाव था ?

मैंने भी अपने शरीरका समस्त मोह त्याग दिया। प्रात.काल उनके उठनेके पूर्व ही उठ पड़ता। उठते ही समस्त आश्रममें झाड़ू देता। इतनेमें ही खड़ाऊँ खटखटाते कमंडलु हाथमें लिये वे महात्मा शौचके लिये जाते हुए दिखाई देते। मैं झाड़ू फेंककर भूमिमे लोट कर उन्हें साष्टाँग प्रणाम करता। वे पूछते—"अरे, कौन है वेटा, हरिदास ! तू बड़ी जल्दी उठ पड़ता है रे ! इतना कहकर पुचकारते, और चले जाते। उनके चले जानेपर उनके चरणोंके नीचेकी धूलिको उठाकर धीरेसे मैं अपने मस्तकपर, सम्पूर्ण शरीरपर

मलता। फिर और भी जो महात्मा दिखाई देते तो सबके चरणोंमें प्रणाम करता। समस्त आश्रमको झाड़-बुहार कर खूब स्वच्छ बनाकर मैं गंगातटपर जाता। स्नानादिसे निवृत्त होकर तुलसी और पुष्प उतारता। जहाँ आचार्य महाराजका आसन था उसके एक ओर पूजाकी वेदी थी। दूसरी ओर भगवान्की रसोई बनती थी। मैं महाराजके सम्मुख ही टोकरी लेकर बैठ जाता, भगवान्के लिये हार बनाता रहता और महाराजके पाठ-पूजाको भी देखता सुनता रहता। रसोईमें पूजामें, जब भी जिस-जिस कार्यके लिये आवश्यकता पड़ती मुझे पुकारते थे—'हरिदास!' मैं उसी समय उत्तर देता—'हाँ, महाराजजी, मैं आया!' तत्क्षण उठकर जाता और वे जो भी काम करनेको कहते उसे करके पुन. अपने स्थानपर आ बैठता। आरतीमें, पूजा कथामें, कीर्तनमें, सभीमें बड़ी श्रद्धाके साथ सम्मिलित होता। कैसे मनोहर कीर्तन करते थे वे मुनिगण! अब भी उसका स्मरण आते ही मेरा हृदय गद्गद हो जाता है। उनमें एक गोरेसे ठिंगनेसे बड़े ही स्वरूपवान् महात्मा थे। कैसी मनमोहिनी मूर्ति थी उन महात्माकी। जब वे वीणा बजाकर भगवान्के गुणानुवाद गाते तो ऐसा लगता था, मानो कोकिल कूक रही हो। कितना सुरीला सुर था उन साधुका। कैसी तन्मयतासे गाते थे वे उन गीतोंको। गाते-गाते श्रावण भादोंकी वर्षाकी भाँति उनके नेत्रों से अश्रुओंकी झड़ी लग जाती। उपस्थित सभी महात्माओं की आँखें भीग जातीं। मैं अपने अश्रु भरे गीले नेत्रोंसे अनिमेष उन्हींकी ओर देखता रह जाता। मेरे मनमें बार-बार यही बात आती कि ऐसी ही वीणा एक मुझपर भी होती, तो मैं भी इसी भाँति प्रेममें विभोर होकर कृष्ण कीर्तन करता

प्रेमसे प्रभुके यश सम्बन्धी पदोंका गायन करता। किन्तु दासीके पुत्रपर वीणा कहाँसे आती ? आ भी जाती तो उसे बजाना कौन सिखाता, इसीलिए मन मारकर रह जाता और उस कीर्तनको सुनकर ही सन्तोष करता। उस मधुर गायन-को सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती थी। चित्त चाहता था यह और भी होता रहे, किन्तु वहाँ तो सबके कार्य समयानुसार ही होते।

भगवान्‌का भोग लगनेके अनन्तर जब सन्तोंकी पंक्ति लगती और वे भगवन्नामोंका उच्चारण करते हुए प्रसाद पा लेते तो मैं सबकी पत्रावली उठाता। उनमें लगे हुए कणोंको बड़ी सावधानीसे बीनता और उन महात्माओंकी आज्ञा पाकर उस महाप्रसादको पाता था। आचार्य महाराजके थाल में जो कुछ लगा रहता, उसे भी उठा ले जाता। एक दिन मैंने विनीत भावसे उनसे पूछा—'महाराजजी, मैं इस प्रसादको पा लिया करूँ ?' यह सुनकर थोड़ी देर उन्होंने कुछ सोचा और फिर बोले—अच्छी बात है।' बस फिर क्या था ? मेरा काम बन गया। व्यासजी, शुद्धतासे रसोई बनाकर भगवान्‌का भोग लगाया जाय; मंजरी सहित हरी हरी कोमल तुलसी डालकर प्रभुके अर्पण किया जाय, तब वह अन्न 'महाप्रसाद' हो जाता है। उसी महाप्रसादको सन्त भगवद् भक्त पा लें और उनके पानेके पश्चात् जो शेष रह जाय, उसीको महा-महाप्रसाद कहते हैं। उस प्रसादको उनकी आज्ञासे श्रद्धा भक्तिके सहित पानेसे सभी प्रकारके पापोंका नाश हो जाता है। अन्तःकरणकी मलिनता दूर हो जाती है।

बड़े-बड़े पात्रोंमें प्रसाद बनता था, उन्हींमें तुलसी छोड़कर भगवान्‌को समर्पित किया जाता था। पीछे महात्मा

उन वर्तनोंको मलते थे। मैं तो बच्चा था। मुझसे इतने बड़े पात्र न उठते ही थे, न वे कभी मुझसे मलनेको ही कहते थे। छोटे-छोटे पात्रोंको मैं मल लाता था। दिनको मैं एक बार महात्माओंकी सीथ प्रसादी पाकर ही प्रसन्न रहता। इसी के पानेसे मेरा अन्त.करण शुद्ध हो गया। फिर प्रसाद पाने के अनन्तर मैं कथामें बैठ जाता। एकाग्रचित्तसे कथा सुनता पुन. गगातटपर जाता और अच्छी-अच्छी बहुत सी दातौन तोड़कर लाता। सुन्दर पीली मिट्टी खोदकर किनारे किनारे रास्तेमें रख आता कि शौच क्रियाके लिये महात्मा सरलता से ले जायँ। उन महात्माओंकी चर्य्या मुझे बहुत ही प्रिय लगती। अपने जीवनको निरर्थक समझता। देखो, मेरा भी एक जीवन है, पृथ्वीका भारभूत बना हूँ। जब तुलसी तोड़ता तो रो पड़ता, सोचता यह तुलसी धन्य है, भगवान्‌की सेवा में आती है, उनके ऊपर चढ़ती है। पुष्पोंको उतारता तब उन्हें मन ही मन प्रणाम करता— भैया पुष्पो ! तुम्हारा ही खिलौना सार्थक है, तुम भगवत् सेवामें काम आते हो, मुझ मूढ़से तो कुछ भी किसीका कार्य नहीं होता। दातौन तोड़ता तो सोचता—इन पेड़ोंकी ये डालियाँ धन्य हैं, जो साधुओंके कार्यमें तो लगीं। मृत्तिका खोदता तब भी सोचता—मुझसे तो यह मृत्तिका ही अच्छी है। इस प्रकार अपने भक्ति हीन जीवन पर मुझे वार-वार दु ख होता। उन महात्माओंके साथ बहुत सी गौएँ थीं। मैं उनके बछड़ोंके साथ खेलता। हरी-हरी घास लेकर उनके मुँहमें देता। उन्हें भाईकी तरह प्यार करता। इस प्रकार उन महात्माओंके सत्संगमें मेरे वे दिन जाते हुए मालूम ही न पड़ते थे। मुझे ध्यान ही न रहता, कब प्रातः हुआ, कब सायंकाल हो गया ? वही कथा-कीर्तनकी सुरसरि

बहती रहती। उसका प्रवाह निरंतर अव्याहत गतिसे बहता रहता।

आचार्य महाराजकी रात्रिमें चरण सेवा भी मैं करता था। कितना सुखद स्पर्श था उन तपोधनका? अपने निस्वार्थ प्रेमसे उन्होंने मुझे स्नेह सागरमें निमग्न कर दिया। जब किसी सत्संगमें चर्चा चलती तो वे दूसरे संतोंके सामने मेरे सम्बन्धमें कहने लगते—"देखो, इस बच्चेकी अवस्था वैसे तो अभी छोटी है, किन्तु बड़ा संस्कारी प्रतीत होता है। कथा कितने मनोयोगसे सुनता है, कीर्तन कितने प्रेमसे गद्गद हो कर करता है, कोई योग भ्रष्ट मालूम पड़ता है।" महात्माके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनकर मन ही मन मुझे प्रसन्नता होती, किन्तु लज्जाके कारण मैं सिर झुका लेता या वहाँसे उठकर अन्यत्र चला जाता!

उन महात्माकी कथाका मेरे जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा! मेरी मति श्रीकृष्णचरणारविन्दोंमें अचल हो गयी मुझे यह सम्पूर्ण संसार स्वप्नकी भाँति प्रतीत होने लगा। मुझे सर्वत्र श्यामसुन्दरकी सलोनी मूर्ति ही दिखायी देने लगी। इस सम्पूर्ण सत् असत् रूप जगतको मैं परब्रह्म स्वरूपसे अपने भीतर ही अनुभव करने लगा और यह बाह्य प्रपंच मायिक और अपने आप कल्पना किया हुआ प्रतीत होने लगा।

न मुझे माताकी चिन्ता थी, न घरकी। माता नित्य आकर मुझे देख जाती, महात्माओंको प्रणाम कर जाती, घंटों बैठी रहती, महात्माओंके सामने रोती और मेरी मंगल कामनाके लिये प्रार्थना करती। महात्मा उसे भाँति-भाँतिसे समझाते—"अरी माई, यह तेरा पुत्र बड़ा होनहार है। तू इसकी चिन्ता मतकर।" किन्तु मातृ हृदय तो ब्रह्माजीने

विचित्र ही बनाया है। वह मुझसे नित्य पूछती—"बेटा, क
कष्ट तो नहीं। भोजन आदि सब ठीक मिलता है न?"
कहता—"माँ, यहाँ महात्माओंकी शरणमें कष्टका क्या काम
यहाँ सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है।"

इस प्रकार व्यासजी! वे दिन कितने सुखसे बीते। यह का
की बात नहीं, मेरा हृदय ही जानता है। इतना कहते-कहते ना
जीका कंठ रुक गया और वे कुछ कालके लिये भाव समाधि
निमग्न हो गये।

छप्पय

कृष्णकीरतन कथामाँहिं आसक्त भयो चित।
सेवा श्रद्धासहित करूँ सतनिकी हौं नित॥
सुनत मनोहर चरित मैल मनको सब छूट्यो।
श्रीपति-पद रति भई जगततैं नातो टूट्यो॥
चित्त भ्रमर सतसङ्ग मधु, श्रीहरि गुन गावन लग्यो।
मनमें मोद महा भयो, हृदय प्रफुल्लित ह्वै गयो॥

[इससे आगे की कथा द्वितीय खण्ड में पढ़ें]

शोक-शान्ति

द्वितीय संस्करण

(श्रीब्रह्मचारीजीका एक मनोरंजक और तत्वज्ञानपूर्ण पत्र)

इस पुस्तकके पीछे एक करुण इतिहास है। मद्र
गुंटूर प्रान्तका एक परम भावुक युवक श्रीब्रह्मचारीजीका ।
भक्त था। अपने पिताका इकलौता—अत्यन्त ही प्यारा दुला
पुत्र था। वह त्रिवेणी संगमपर अकस्मात् स्नान करते स
डूबकर मर गया। उसके संस्मरणोंको ब्रह्मचारीजीने बड़ी
करुण भाषामें लिखा है। पढ़ते पढ़ते आँखें स्वतः बहने ल
हैं। फिर एक वर्षके पश्चात् उसके पिताको बड़ा ही तत्व
पूर्ण ५०।६० पृष्ठोंका पत्र लिखा था। उस लिखे पत्रकी हि
और अँगरेजीमें बहुत-सी प्रतिलिपियाँ हुई उसे पढ़कर बह
शोकसंतप्तप्राणियोंने शान्ति लाभ की। इसमें मृत्यु क्या
इसका बड़े ही सुन्दर ढङ्गसे मनोरंजक कथाएँ कहकर व
किया गया है। लेखकने निजी जीवनके दृष्टान्त देकर पुस्त
अत्यन्त उपादेय बना दिया है। अक्षर-अक्षरमें विचारक लो
की अनुभूति भरी हुई है। उसने हृदय खोलकर रख दिया है।
दिन मरना सभीको है अतः सबको मृत्युका स्वरूप स
लेना चाहिये, जिन्हें अपने सम्बन्धीका शोक हो, उनके ि
तो यह रामबाण औषधि है। प्रत्येक घरमें एक पुस्तक
रहना आवश्यक है। ६४ पृष्ठकी सुन्दर पुस्तकका मूल्य।-
पाँच आना मात्र है। आज ही मँगानेको पत्र लिखें समाप्त ह
पर पछताना पड़ेगा। कुछ दिन से यह पुस्तक अप्राप्य थी। अ
इसका सुन्दर कागज पर द्वितीय संस्करण छपकर तैयार है।

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)